पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 39 मार्च-अप्रैल, 2012

संपादक

भारत भारद्वाज

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता
अंक : 39 मार्च-अप्रैल, 2012

प्रकाशक :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)-442005
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

प्रकाशन प्रभारी :
डॉ. बीर पाल सिंह यादव
email : bpsjnu@gmail.com
फोन : 07152-232943 मो. : 09272132803

प्रचार-प्रसार :
दान सिंह नेगी
e-mail : dansnegi@hindivishwa.org
फोन : 07152-232943 मो. : 09665146282

© संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक : ` 20
वार्षिक सदस्यता : ` 120
चेक/ड्रॉफ्ट कमीशन जोड़कर वार्षिक ` 145 और द्वैवार्षिक ` 265। म.गां.अं.हिं.वि. का दिल्ली केंद्र अब बंद हो गया है। इसलिए पत्रिका प्राप्ति के लिए पाठक अब सीधे वर्धा मुख्यालय से संपर्क करें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
फोन : 07152-232943

संपादकीय संपर्क : (वर्तमान पता)
211, आकाशदर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091
मो.-09313034049 (संपादकीय)
टेली.-011-42151470

PUSTAK-VARTA
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Gandhi Hills, Wardha-442005 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (09212796256)

आवरण-सज्जा : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय	: **अंग्रेजी का साहित्यिक उपनिवेश**/भारत भारद्वाज	4
पुस्तकें और मैं	: **पुस्तकें और मैं**/ कामतानाथ	6
उपन्यास	: **औरत की मुक्ति का परचम**/विजय शर्मा	9
	: **खेल-खेल में**/अरुण कुमार	12
	: **फिर वही सवाल : व्यवस्था की उठती-गिरती दीवारें**/अर्पण कुमार	14
	: **संवेदनशील आत्माओं की त्रासदी**/रूपेश कुमार सिंह	16
कहानी	: **अश्वत्थामाओं के शहर में उम्मीद की तलाश**/रमेश कुमार बर्णवाल	18
	: **तकनीकी आध्यात्मिक-सी कहानियां**/सरिता शर्मा	20
	: **बड़ी अपेक्षाओं वाली शुरुआत**/मधुरेश	22
कविता	: **हहराना चाहती है इच्छा की दूब**/वंदना मिश्रा	25
	: **खबरें और अन्य कविताएं खबर आज की...**/चिलवंत प्रकाश गोरोबा	26
	: **कविता के नए इलाके में**/केवल गोस्वामी	28
आलोचना	: **महाकवि के काव्य-सौंदर्य की अद्‌भुत अभिव्यक्ति**/श्रीकांत सिंह	30
	: **स्त्री-विमर्श की बाढ़ में निथरे पानी की तरह आलोचना**/सूरज पालीवाल	34
	: **आलोचना का लोकतंत्र**/स्वयंप्रकाश	36
	: **रचना-आलोचना का स्वाधीन विवेक**/दीपक प्रकाश त्यागी	38
	: **लोकतंत्र में कहानी**/नवलकिशोर	42
	: **अधूरा शोध अधूरी आलोचना**/हरदयाल	44
आत्मकथा	: **दोहरे शोषण से मुक्ति की छटपटाहट**/प्रीति सागर	46
नाटक	: **भीष्म साहनी के नाटक**/मलय पानेरी	49
पत्रकारिता	: **समावेशी मीडिया में बहिष्करण की विडंबनाएं**/प्रांजल धर	51
साहित्य का नोबेल पुरस्कार	: **तुमस गोस्ता त्रांसत्रोमर को साहित्य का नोबेल पुरस्कार**/सुभाष शर्मा	54

अंग्रेजी का साहित्यिक उपनिवेश

श्री शिवरतन थानवी (फलौदी, जोधपुर, राजस्थान) मुझसे इस बात को लेकर नाराज रहते हैं कि संपादकीय की जगह प्रायः मैं 'धरोहर' के अंतर्गत पूर्वज लेखकों का संस्मरण या लेख देता हूँ। उनके अनुसार मुझे संपादकीय लिखना चाहिए, लेकिन मुझे लगता है देश में प्रकाशित लगभग सौ से ऊपर हिंदी समाचार पत्र और तीन सौ लघु पत्रिकाओं में संपादकीय लिखा ही जा रहा है। अपवाद है सिर्फ हरिनारायण द्वारा संपादित मासिक 'कथादेश', जिसमें वे संपादकीय नहीं लिखते। संपादकीय अपने समय में एक हस्तक्षेप होता है। यदि यह हस्तक्षेप कोई दूसरा समकालीन जोरदार ढंग से कर रहा है तो हमें उसे प्राथमिकता देनी चाहिए, चालू संपादकीय लिखने के मोह से बचकर। 'हंस' संपादक राजेंद्र यादव 25 वर्षों से हर महीने निरंतर संपादकीय लिख ही रहे हैं। इस बार संपादकीय की जगह मैं डॉ. शंभुनाथ की टिप्पणी **'अंग्रेजी का साहित्यिक उपनिवेश'** दे रहा हूँ।

—संपादक

साहित्य से भी बड़ा साहित्य उत्सव है, यह जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल ने साबित किया। इस पर आश्चर्य हो सकता है कि जिस साहित्य के सामाजिक विस्थापन का लोग रोना लेकर बैठ जाते हैं, इस उत्सव में उसका कितना हल्ला मचा, देश-विदेश के लेखकों को देखने-सुनने के लिए कितनी भीड़ें उमड़ीं, और पांच दिनों में देखते-देखते करोड़ों की किताबें बिक गईं। जयपुर साहित्य उत्सव एक नए ट्रेंड की सूचना है। अब देशभर में इसके छोटे-छोटे प्रतिबिंब बन रहे हैं। इसलिए इसे अच्छी तरह समझने की जरूरत है।

जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल में साहित्यकार ही नहीं, फिल्मी हस्तियों, मंत्रियों, अमेरिका-इंग्लैंड से आए मीडिया के लोगों, हजारों विद्यार्थियों-नौजवानों और निश्चय ही प्रकाशकों का भी एक बड़ा जमावड़ा था। सेलिब्रिटी बने हुए कुछ लेखक आदि दुर्लभ दृश्य थे तो काफी लेखक दर्शक थे। उत्सव में अमेरिका की खरबपति आकर्षक महिला विनफ्रे भी आईं। शहर के होटलों के तीन हजार कमरे बुक थे। गुलाबी शहर में अनगिनत लेखक गुलाबी गुलाबी। मेरे जैसे दूरदर्शकों को पहली बार यह लगा, यह साहित्य का तूफान है। कुछ सालों में ही यह चीज इतनी अधिक बढ़ गई। इतना तामझाम, इतना प्रचार और सबकुछ एक बड़े सांस्कृतिक विस्फोट-सा और इन सब पर अंग्रेजी की एक विराट रेशमी चादर। इस माहौल में होना एक बौद्धिक स्टेटस का मामला बन गया। जयपुर साहित्य उत्सव ऐसी घटना है, जो कई बार आशा से अधिक भय पैदा करती है।

इस साहित्य उत्सव में भारतीय भाषाओं के इने-गिने लेखक आमंत्रित थे। इनकी न कोई आवाज थी और न ये मुख्य दृश्य में थे। इनकी सिर्फ औकात दिखाई जा रही थी। चारों तरफ अंग्रेजी का दबदबा था। मुझे नहीं पता हिंदी के दिल्ली में रहनेवाले जो लेखक जयपुर उत्सव में गए थे, वे इसमें भारतीय भाषाओं की पददलित स्थिति देखकर कितनी शर्म महसूस कर रहे थे। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय भाषाओं के लेखकों का आम अनुभव यही होगा कि यह उत्सव अंग्रेजी में लिखनेवाले भारतीय लेखकों, बल्कि अंग्रेजी में लिखने वाले गैर-पश्चिमी मूल के लेखकों को प्रमोट करने के लिए है। यह निश्चय ही सबसे अधिक भारत में अंग्रेजी का साहित्यिक उपनिवेश बनाने का मामला है।

जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल की कारीगरी अभूतपूर्व है। इसके पीछे विभिन्न स्रोतों से पैसे का अपार बल तो है ही। विदेशी लेखकों और साहित्य प्रेमियों को सबसे अधिक मुग्ध करनेवाली बात है दो सौ चालीस साल पुराने डिग्गी पैलेस के विराट हरे-भरे बहुमूल्य परिसर में इस उत्सव का आयोजन। इस पैलेस में भारत की राजछवि है, एक इतिहास है। इसके साथ ही उत्सव है, साहित्यिक सत्रों के बाद लोकशिल्पियों का प्रदर्शन, ताकि राजछवि और लोकछवि के बीच साहित्यिक अड्डा, तमाशा और मस्त जम उठे।

1857 पर लिखनेवाले 'द लॉस्ट मुगल' के लेखक डेलरिंपल और इस उत्सव के संयोजक (प्रोड्यूसर) संजय रॉय दोनों मुख्यतः रहते दिल्ली में हैं, पर उन्होंने साहित्य उत्सव के लिए चुना जयपुर शहर को। इसके निहितार्थ अस्पष्ट नहीं हैं। जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल मुख्य रूप से इतिहास, लोकसंस्कृति और साहित्य को नव-औपनिवेशिक खेल में बदलने का एक आनंद भरा अभियान है।

समझना मुश्किल नहीं है कि इस फेस्टिवल में गुलजार, जावेद अख्तर और प्रसून जोशी जैसे व्यावसायिक गीतकार ही बड़े कवि का दृश्य क्यों बनाते हैं। फेस्टिवल में कपिल सिब्बल भी बड़े कवि हैं। वे पिछले साल भी आमंत्रित थे, इस बार भी। इस बार तो अशोक वाजपेयी ने उनसे वार्ता की जुगलबंदी की। ऐश्वर्या-अभिषेक की संतान को मुंबई में देखते हुए, मथुरा के ट्रैफिक से टकराकर, स्लम और ताजमहल दोनों का मजा लेते हुए धनाढ्य अमेरिकी लेडी विनफ्रे चमकते-दमकते जयपुर फेस्टिवल पहुँचीं। आखिरकार उन्हें किस हैसियत से आमंत्रित किया गया था? अब अस्पष्ट नहीं है कि इस फेस्टिवल के लिए आमंत्रण नीति के पीछे कुछ सोची-समझी निश्चित योजनाएँ हैं।

कई बार जयपुर फेस्टिवल को डीएससी जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल के रूप में याद किया जाता है। डीएससी सड़क और पुल

बनाने वाली एक बड़ी कंपनी है। इसमें साहित्य-प्रेम कैसे जगा, पता नहीं। इसने पिछले साल से दक्षिण एशियाई साहित्य के लिए पचास हजार डॉलर का डीएससी प्राइज शुरू किया है, जो इस साल भी दिया गया। यह अब भारत से दिया जानेवाला सबसे बड़ी राशि का पुरस्कार है।

यह भीतर से लगभग पूर्व निर्धारित है कि पुरस्कार उपन्यास के लिए दिया जाएगा और वह भी अंग्रेजी में लिखे गए गैर-पश्चिमी लेखक के उपन्यास के लिए। यह एशिया में अंग्रेजी के ताज में एक और कोहिनूर है। दरअसल, तीन साल पहले सलमान रुश्दी ने इसी फेस्टिवल में बिल्कुल स्पष्ट कर दिया था कि अंग्रेजी में लिखा गया भारतीय साहित्य ही भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है, पश्चिम में इसी की स्वीकृति है। 'वर्नाकुलर' में लिखा साहित्य महत्त्वहीन है, यह बात जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल के आयोजकों की मानसिकता में छिपे रूप में घुसी हुई है।

वैश्वीकरण ने भारत में अंग्रेजी का साम्राज्यवाद बढ़ाया है। मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे नए लोग फास्टफूड, फैशन और पश्चिमी जीवनशैली में जी रहे हैं। चेतन भगत के उपन्यासों की अगर लाखों प्रतियां बिक रही हैं, इसी तरह अगर अंग्रेजी में छपे दूसरे लेखकों के उपन्यासों की भी बड़ी खपत है तो इसकी वजह यह है कि इस समय हिंदी, मराठी, तमिल, बांग्ला, मणिपुरी आदि सभी परिवारों से अंग्रेजी को बड़ी संख्या में पाठक मिल रहे हैं। ये अपनी राष्ट्रीय भाषा के साहित्य को त्याग कर अंग्रेजी की चीजें पढ़ रहे हैं। जयपुर फेस्टिवल में ज्यादातर जमावड़ा ऐसे भारतीय पाठकों और साहित्यप्रेमियों का है, जो जड़विहीन हैं, अन्यथा विनफ्रे, चेतन भगत, शशि थरूर इतने क्यों पसंद किए जाते और ये ही दुर्लभ दृश्य क्यों बनते। स्पष्ट है, पश्चिमी देशों में अंग्रेजी पुस्तकों के घटते जा रहे पाठकों की क्षतिपूर्ति एशियाई क्षेत्र के पाठकों से हो रही है, जो एशिया में अंग्रेजी के बढ़ते साहित्यिक उपनिवेश का एक प्रमुख लक्षण है।

जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल अंग्रेजी पुस्तक बाजार की ही एक असरदार सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है। पेंग्विन जैसों का व्यापार भारत में बढ़ा है। यह उत्सव सबसे पहले एक बाजार है। अंग्रेजी में भारतीय लेखन से कभी एतराज नहीं है, पर यह तो देखना ही होगा कि विदेशी पंखों वाली भारतीय चिड़िया कैसी है। इसमें मिट्टी की कोई आवाज है या नहीं, यह 'साहित्यिकता कम-मनोरंजन ज्यादा' में कितनी फंसी है, यह किस हद तक अमेरिकी प्रभाव से मुक्त है और किस हद तक नव-औपनिवेशिक सांस्कृतिक लीला का अंग है।

आखिरकार जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल की उपलब्धि क्या है? सलमान रुश्दी हीरो—जयपुर फेस्टिवल जीरो। लगभग पचीस साल बासी कढ़ी में उबाल आया और पूरा मामला पश्चिमी मूल्य बनाम मुस्लिम कट्टरवाद—हंटिंगटन की सभ्यताओं की टकराहट के जाल में फंस गया। सलमान रुश्दी ने नहीं आकर कायरता का परिचय दिया। अंग्रेजी के चार भारतीय लेखक 'द सैटनिक वर्सेज' से कुछ पंक्तियां पढ़कर भाग गए, उनमें से एक न्यूयार्क भागा।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का आंदोलन क्या भगोड़ों की जमात के बल पर चलेगा? कबीर, सूफी, लिंकन, गांधी और गणेशशंकर विद्यार्थी के समय में क्या कम खतरे थे? सरकार और जयपुर फेस्टिवल के आयोजक दोहरे चरित्र के निकले ही, अंग्रेजी के भारतीय लेखकों ने भी बता दिया कि वे मुद्दा उठा सकते हैं, पर लड़ नहीं सकते।

सलमान रुश्दी प्रकरण में यह संदेह किया जाना शायद निर्मूल नहीं होगा कि उसका प्रचार पहले आयोजकों ने खुद किया। पिछली दफा उनकी आयद अलक्षित रह गई थी। जितना फायदा एक विवादग्रस्त लेखक से मिलना चाहिए, उतना नहीं मिला। इसलिए इस बार पहले से हल्ला किया गया। आखिर मार्केटिंग वाले युवकों का खेल है। उन्हें बेचने, हल्ला उठाने के तौर-तरीके आते हैं। मीडिया में 'शैतान की आयतें' लिखनेवाले रुश्दी चाहे आएं न आएं, उनका शोर उन्हें इतना प्रचार दे सकता था, जो आज तक किसी नायक-नायिका की शिरकत तक ने नहीं दिया। अगर हमारा यह संदेह गलत है तो पूछा जाना चाहिए कि फिर इतने विवादास्पद लेखक के आने की खबर को पिछली बार की तरह पोशीदा क्यों नहीं रखा गया।

आयोजकों को बात तब समझ में आई जब बात हाथ से निकल गई। राज्य सरकार से उन्हें आए साल काम पड़ने वाला है। उन्होंने आंखें दिखाईं और ये डर गए। आखिरी दिन अपनी खाल बचाने के लिए वीडियो वार्ता की योजना बनाई, सरकार ने उसकी इजाजत भी नहीं दी। आयोजक फिर समर्पण की मुद्रा में खड़े हो गए। कायर केवल रुश्दी या भगोड़े लेखक नहीं हैं, आयोजक भी इसी श्रेणी में आ खड़े हुए हैं।

जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल ने स्पष्ट कर दिया, यह विराट बड़ा ही तुच्छ है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अंग्रेजी का साहित्यिक उपनिवेश ठिठक जाएगा। आज हमारे सामने एक मुख्य प्रश्न यह है कि हिंदी समेत सभी भारतीय भाषाओं पर पश्चिम का और अंग्रेजी का जो सांस्कृतिक आक्रमण है, उसका हमारे पास क्या जवाब है। हमें उसका अंग बन जाना है या एक विकल्प देना है? क्या 'भारतीय साहित्य उत्सव' शुरू नहीं किया जा सकता? भारत में अंग्रेजी के बन रहे उपनिवेशों का सामना राष्ट्रीय पुनर्जागरण से ही संभव है।

यह सही है कि हिंदी का बौद्धिक मानस बड़ा विभाजित और स्वकेंद्रवादी है। फिर भी जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल के नव-औपनिवेशिक दुश्चक्र की समझ भारतीय भाषाओं के साहित्य को एक उत्सव का रूप देने के लिए प्रेरित कर सकती है। इसमें एशिया के लेखकों को विशेष रूप से बुलाकर एक नया अर्थ दिया जा सकता है। यह उत्सव तामझाम से नहीं, सार्थक आवाजों से भरा हो। जयपुर फेस्टिवल जैसे अवसरों पर जो अंग्रेजी की जूठन से तृप्त न हो जाते हों, वे इस नई शुरुआत के लिए सोचें।

—'जनसत्ता' से साभार

इस बीच हिंदी साहित्यकार द्रोणवीर कोहली ने हमसे विदा ली। वे 'पुस्तक-वार्ता' में प्रायः लिखते थे। पंजाबी के प्रख्यात कथाकार करतार सिंह दुग्गल भी हमारे बीच नहीं रहे। इन्हें हमारी अश्रुपूरित श्रद्धांजलि।

पुस्तकें और मैं

कामतानाथ

पुस्तकों से मेरा लगाव बचपन से ही, जब मेरी आयु आठ-नौ वर्ष रही होगी, हो गया था। पिता ज्यादा पढ़े नहीं थे। हिंदी तो बिल्कुल भी नहीं जानते थे, लेकिन उर्दू में उनके पास अलिफ लैला, गुल सनोवर जैसी कई पुस्तकें थीं, जिन्हें वह कपड़े के थैले में लपेटकर रखते थे। एक अन्य थैले में उर्दू भाषा में ही रामायण, महाभारत, भागवत आदि बंधी रखी रहतीं। इनमें से अधिकांश पुस्तकें लखनऊ के मशहूर नवल किशोर प्रेस की छपी हुई थीं। वे सभी पुस्तकें बड़े आकार की थीं। खास तौर पर श्रीमद्भागवत तो खासी बड़ी थी। अन्य सब पुस्तकें तो पिता एकांत में मन-ही-मन पढ़ते थे, जबकि भागवत वह परिवार के सभी सदस्यों को बिठाकर सुनाते। ऐसा वह विशेष अवसरों पर करते जैसे जन्म अष्टमी वाले दिन कृष्ण जन्म की कथा। इसी तरह कोई पथरा चौथ होती थी उन दिनों (पता नहीं, हो सकता है पुराने मुहल्लों में आज भी होती हो) जिस दिन शाम ढले लोग एक-दूसरे के घरों में ढेले या पत्थर फेंकते थे और जिसके यहां ढेले फेंके जाते, वह जोर-जोर मल्लाही गालियां बकता। इसकी भी कोई कथा भागवत में थी। उसे भी पिता पढ़कर सुनाते। इसी तरह गज-ग्रह, नारायण (जो किसी बहुत ही पापी आदमी के बेटे का नाम था, सो मरते समय जब यमराज उसके प्राण लेने आए तो वह अपने बेटे को 'नारायण' 'नारायण' कहकर बुलाने लगा और विष्णु भगवान यह समझकर कि कष्ट में फंसा उनका कोई भक्त उन्हें बुला रहा है, वहां पहुंच गए और उसे मृत्यु के मुंह से बचा लिया)। आदि की कथा भी वह सुनाते थे। रामायण, महाभारत में उनकी कथाओं पर आधारित चित्र थे। जैसे परशुराम, शिव धनुष टूटने पर, जनक के दरबार में सभी को ललकारते हुए, राम का वन-गमन, हनुमान का संजीवनी बूटी वाला पर्वत हाथ में लेकर आकाश में उड़ते हुए आदि। इसी प्रकार महाभारत में अर्जुन का द्रोपदी स्वयंवर में मछली की आंख पर निशाना साधते हुए, वनवास के दौरान जंगल में विश्राम करते हुए, भीष्म पितामह का तीरों की शय्या पर लेटे हुए, अभिमन्यु का रथ के टूटे पहियों से कुरुक्षेत्र में कौरवों का सामना करते हुए आदि-आदि।

अलिफ लैला में परियों, जिन्नों आदि के सिंदबाद की यात्राओं, अलीबाबा चालीस चोर, अलादीन और जादुई चिराग संबंधी अनेकों चित्र थे। यह दुनिया मेरे लिए बहुत ही रोमांचकारी थी। मैं अक्सर ही पिता के ऑफिस चले जाने के बाद उनकी ये पुस्तकें निकालकर पढ़ता रहा (यहां यह बताना आवश्यक होगा कि कायस्थ परिवार में जन्म लेने के कारण मैंने भी प्रारंभ में उर्दू ही पढ़ी) और पिता के लौटने से पहले ही उन्हें वापस उनके बस्तों में बांधकर रख देता।

महाभारत और अलिफ लैला ही मुझे अधिक भातीं। उनकी एक-एक कहानी मैं अनेक बार पढ़ता। पुस्तकों से यह मेरा पहला साबका था, जो बहुत ही लोमहर्षक था।

तभी मेरा स्कूल में चौथे दर्जे में दाखिला हो गया और मैंने पहली बार स्कूल जाना शुरू किया। स्कूल में खासी बड़ी लाइब्रेरी थी, जिसमें बच्चों के लिए काफी पुस्तकें थीं। मास्टर बांकेलाल, जो वैसे तो भूगोल पढ़ाते थे, उसके इंचार्ज थे। वह बच्चों को हमेशा पुस्तकें इशू कराने के लिए प्रेरित करते रहते। मुझे आज भी याद है 'गुलीवर की कथाएं', 'हंच बैक आफ नाट्रे डैम', 'थ्री मस्केटियर्स', 'राविंसन क्रूसो' आदि पुस्तकें मैंने यहीं से लेकर पढ़ी थीं। इसके अलावा मेरी क्लास का एक लड़का सिराज अहमद, जो मेरी बगल में ही बैठता था, अपने घर से बच्चों की पत्रिकाएं ले आता और क्लास के खाली समय उन्हें पढ़ा करता। इन पत्रिकाओं में कहानियों के अलावा बच्चों के लिए चित्र वाले बहुत-से खेल हुआ करते थे, जैसे भूल-भुलैया वाले रास्ते से किसी जानवर या व्यक्ति को उसके घर तक पहुंचाना, किसी जंगल में उगे वृक्ष, झाड़ियों आदि में जानवरों के चित्र खोजना आदि। ये पत्रिकाएं मैं उससे मांग लाता और घर पर पढ़ा करता। उर्दू भाषा के मेरे कोर्स में भी एक पुस्तक थी, जिसका शीर्षक था 'बहादुरी के किस्से' इसमें शेख सादी के 'शाहनामा' का उर्दू गद्य में अनुवाद था। रुस्तम सोहराब, अफरासियाब आदि की कथाएं थी इसमें। यह पुस्तक भी मुझे बेहद पसंद थी।

उन्हीं दिनों मुझे देवकीनंदन खत्री की **'चंद्रकांता संतति'** और **'भूतनाथ'** पुस्तकें भी पढ़ने को मिलीं। ये पुस्तकें क्यों कर उपलब्ध थीं। गर्मी की अथवा अन्य लंबी छुट्टियों के

दौरान पिता मुझे अक्सर ही वहां छोड़ आते और छुट्टियां समाप्त होने के पश्चात् वापस ले आते। तभी एक दिन मुझे यह पुस्तकें बुआ के छोटे बेटे गोकरन के कमरे में रखी मिल गईं। पुस्तकें पढ़ने का मेरा शौक तब तक जाग चुका था। अतः गोकरन दादा से अनुमति लेकर मैंने उन्हें पढ़ना शुरू किया तो उन्हीं में खो गया। जादू-टोना, ऐय्यारी आदि की ये पुस्तकें मुझे इतनी भायीं कि मैं खाना-पीना भूलकर उनमें खो गया और इससे पहले कि पिता मुझे वापस लेने आएं, मैंने दिन-रात एक करके उन्हें समाप्त कर दिया। मैं समझता हूं हिन्दी में सबसे ज्यादा पढ़ी जाने वाली पुस्तकों में इनका शुमार होता है, जिसके लिए कितने ही लोगों ने विशेषकर हिंदी सीखी।

हाईस्कूल तक इस तरह चला। तब इंटर में पहुंचते-पहुंचते पुस्तकों का मुझे चस्का-सा लग गया। सिलसिला यों शुरू हुआ कि जिस वर्ष मैंने हाईस्कूल की परीक्षा दी, उसी वर्ष पहली बार मेरे स्कूल की होम मैगजीन प्रकाशित हुई, जिसमें शिक्षकों के अलावा विद्यार्थियों की भी अनेक रचनाएं प्रकाशित हुईं। पत्रिका तीन भागों—हिंदी, उर्दू तथा अंग्रेजी में थी। मैं तीनों भाषाएं जानता था, लेकिन मेरी कोई रचना उसमें नहीं थी, परंतु जब मैंने अन्य विद्यार्थियों की उसमें छपी रचनाएं पढ़ीं तो मुझे लगा कि मैं उनसे कहीं अच्छा लिख सकता हूं और मैंने गर्मी की छुट्टियों में लिखना शुरू कर दिया, विशेषकर अंग्रेजी में। वह भी कविताएं। अंग्रेजी कविताओं की जो पुस्तक मेरे कोर्स में थी, उसमें कोर्स की कविताओं के अलावा भी अनेक कविताएं थीं। मैंने उन्हें पढ़ना शुरू किया तो वे मुझे बेहद पसंद आईं, उन्हीं की तर्ज पर मैंने अंग्रेजी में कविताएं लिखनी शुरू कीं। पहली कविता जो मैंने लिखी, वह टेनिसन की एक कविता से प्रभावित थी। कविता का शीर्षक था 'Brook' जिसकी पहली पंक्ति थी 'men may come & men may go but I shall go on forever' उसी की नकल में मैंने 'River' शीर्षक कविता लिखी, जिसकी पहली लाइन थी, 'I come from the mountains & go to the sea!' बस फिर क्या था। मैं उसमें छपी अन्य कविताओं की तर्ज पर धड़ाधड़ कविताएं लिखने लगा।

तभी स्कूल पुनः खुल गए और मैंने इंटर साइंस में एडमीशन ले लिया। यह 1949 की बात है। नई-नई आजादी मिली थी। सरकार अन्य क्षेत्रों की तरह शिक्षा के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग कर रही थी। इनमें से एक प्रयोग यह था कि विज्ञान के विद्यार्थियों को साहित्य नहीं पढ़ाया जाएगा। न हिंदी, न अंग्रेजी। मुझे काफी सदमा पहुंचा। मैं विज्ञान विषय ही छोड़कर कला संकाय में एडमीशन लेने को तैयार हो गया, लेकिन घरवालों के दबाव के कारण यह संभव नहीं हो सका और मुझे झक मारकर विज्ञान पढ़ना पड़ा। वैसे हाईस्कूल में गणित में मेरे सौ में सौ नंबर आए थे और विज्ञान में भी अच्छे-खासे नंबर थे। अतः विज्ञान पढ़ने में मुझे कोई कठिनाई नहीं होनी थी। यह साहित्य के प्रति मेरा लगाव ही था, जिसकी वजह से मैं विज्ञान छोड़ने को तैयार था, परंतु यह संभव नहीं हो सका। तभी बिल्ली के भाग से छींका जैसा टूटा। हुआ यह कि मेरे कॉलेज की लाइब्रेरी की अनेक पुस्तकों में दीमक लग गई, या फिर उनकी बाइंडिंग वगैरह खुल गई। कॉलेज प्रशासन ने इन पुस्तकों को दोबारा बाइंड कराने या फिर उनका anti-termite treatment कराने के बजाय उन्हें विद्यार्थियों को नीलाम करने का निर्णय लिया। यह नीलामी विषय के अनुरूप अथवा अन्य किसी क्रमानुसार नहीं थी। जितनी भी पुस्तकें थीं, उन्हें दस-दस, पंद्रह-पंद्रह के ढेर में एक बड़ी मेज पर सजा दिया गया और विद्यार्थियों से उनकी बोली लगाने को कहा गया। मैं भी अन्य विद्यार्थियों की तरह उन गट्ठरों को उलट-पुलटकर देखने लगा। तभी एक गट्ठर में अन्य पुस्तकों के बीच मुझे 'गोल्डेन ट्रेजरी' नामक अंग्रेजी की कविताओं की पुस्तक मिल गई। मेरा मन उसे खरीदने के लिए लालायित हो उठा, लेकिन मेरे पास बोली लगाने के पैसे नहीं थे। मैंने उसे शिक्षक से, जो इस काम को देख रहा था, बात की तो वह उधार मानने के लिए राजी हो गया। मुझे ठीक से ध्यान नहीं कि किसी अन्य विद्यार्थी ने उस गट्ठर के लिए बोली लगाई हो। बहरहाल, मुंहमांगे दामों पर पुस्तकों का वह बंडल मुझे मिल गया। गोल्डेन ट्रेजरी के अलावा उसमें शेक्सपियर के संपूर्ण नाटकों के दो खंड, फ्रैंसिस बेकन के निबंधों का संग्रह, बाइरन की प्रिजनर आफ शियां' (जो संभवतः उन दिनों साहित्य के विद्यार्थियों के कोर्स में लगी थी) तथा लाजिक की दो-चार पुस्तकें थीं। यह पुस्तकें लेकर मैं घर लौट रहा था तो मेरे दिल की धड़कनों की रफ्तार निश्चय ही साधारण से अधिक थी। दूसरे दिन मैंने मां से पैसे लेकर उन पुस्तकों का मूल्य अदा कर दिया और विज्ञान के विषय भूलकर इन पुस्तकों को पढ़ने में जुट गया। 'गोल्डेन ट्रेजरी' ही मुझे सबसे ज्यादा भायी। बाइरन की 'प्रिजनर आफ शियां' तथा बेकन के एसेज भी मुझे पसंद आए। शेक्सपियर के नाटकों के बारे में तो कहना ही क्या था!

इस घटना ने पुस्तकों के प्रति मेरी भूख बढ़ा दी। अब मैं नियमित रूप से हर रविवार को लखनऊ के नक्खास मुहल्ले में लगने वाले पुरानी वस्तुओं के, जिनमें पुस्तकें भी शामिल थीं, बाजार जाने लगा। जेब खर्च के मेरे पैसे वहां मिलने वाली पुस्तकों की खरीद पर लगने लगे। एक शब्दकोश भी मैं वहां से खरीद लाया और उसकी सहायता से एक-दूसरे से तुक मिलने वाले शब्द ढूंढ़कर अंग्रेजी में कविता करने लगा। कॉलेज लाइब्रेरी से भी पुस्तकें जारी कराकर मैं उनके पढ़ने में भी समय लगाने लगा। कुछ गलत काम भी मैंने किए, जैसे कॉलेज लाइब्रेरी से जारी कराई गई पुस्तकों में से कुछ के पृष्ठ ब्लेड से काटकर निकाल लिए। यह ऐसी पुस्तकें थीं, जिनके मूल्य की भरपाई कर पाना मेरी सीमा के बाहर था। इन्हीं में से एक पुस्तक शेक्सपियर के सानेट्स की थी। यह पुस्तक मुझे इतनी अच्छी लगी कि मैं किसी भी कीमत पर इसे पाने के लिए बेचैन हो उठा। पुस्तक वर्ल्ड क्लासिक्स सीरीज में छपी थी। उस समय उसका मूल्य छः-सात रुपये से कम नहीं रहा होगा, जो मेरे बस के बाहर था। पुस्तक में लेखक के कृतित्व पर खासी लंबी भूमिका थी तथा सानेट्स के ऊपर नोट्स आदि थे। इस प्रकार पूरी पुस्तक चार-पांच सौ पृष्ठों से कम की न रही होगी, जिनमें सानेट्स के लगभग 150 पृष्ठ थे। जी कड़ा करके मैंने उसमें से ये पृष्ठ ब्लेड से काटकर निकाल लिए। ऐसा करते हुए मैं डर तो रहा ही था कि कहीं ऐसा न हो कि मैं पकड़ा जाऊं और मुंह काला करके मुझे पूरे कॉलेज में घुमाया जाए, साथ ही भीतर-ही-भीतर मुझे ग्लानि भी हो रही थी कि मैं जो भी कर रहा हूं, ठीक नहीं है, परंतु मैं अपने दिल से मजबूर था। ईश्वर की कृपा कहिए या फिर जो भी

नाम इसे दिया जाए, मैं पकड़े जाने से बच गया। बाद में उन पृष्ठों को मैंने पुस्तक रूप में बाइंड करवा लिया, जो साठ साल बाद आज भी मेरे पास सुरक्षित है।

कॉलेज लाइब्रेरी में विद्यार्थियों की पहुंच सीधे पुस्तकों तक नहीं थी। उन्हें उस कक्ष में जाने की आज्ञा नहीं थी, जहां पुस्तकें रखी रहतीं। पुस्तकालय के प्रवेश द्वार पर पुस्तकालयाध्यक्ष कुर्सी-मेज डाले बैठे रहते। वहीं एक मेज पर कैटलाग रहता। कैटलाग देखकर ही विद्यार्थियों को अपनी पसंद की पुस्तक का नाम और नंबर एक स्लिप में लिखकर पुस्तकालयाध्यक्ष को देना होता। वह उसे चपरासी के माध्यम से निकलवाकर रजिस्टर में नोट करके विद्यार्थी के हस्ताक्षर कराकर पुस्तक जारी कर देते। मेरे लिए इस व्यवस्था में थोड़ी कठिनाई थी। मैं चाहता था कि मैं पुस्तकों को उलट-पुलटकर देख सकूं और अपने मन की पुस्तक जारी करा सकूं, परंतु यह वहां संभव नहीं था। ऐसी व्यवस्था शहर की एक बड़ी लाइब्रेरी, अमीरुद्दौला पब्लिक लाइब्रेरी में थी। मैं इस लाइब्रेरी का सदस्य बन गया। वहां ढेरों पुस्तकें थीं, जो लोहे के शेल्फों में सजी रहतीं। मैं हफ्ते में एक-दो बार लाइब्रेरी अवश्य जाता और अपने मन की पुस्तकें जारी करा लाता। रवीन्द्रनाथ टैगोर, बेर्ट्रेंड रसेल आदि की जो भी पुस्तकें वहां उपलब्ध थीं, लगभग सभी मैंने पढ़ डालीं। पुस्तकों के पृष्ठ तो मैंने वहां की पुस्तकों से नहीं फाड़े, लेकिन उनमें छपे लेखकों के चित्र मैं अवश्य ही फाड़ लेता। डी. एच. लारेंस, चार्ल्स डिकेंस, टी. एस. इलियट, एच. जी. वेल्स, स्टीफन स्पेडर, डब्लू. एच. आडेन आदि के चित्र मैंने उनकी पुस्तकों से निकाल लिए। इन्हें लकड़ी के फ्रेम में मढ़ाकर अपने कमरे में सजा लेता। उनमें से कुछ चित्र आज भी मेरे पास मौजूद हैं। ऐसा करना गलत था, इसका एहसास मुझे उस समय भी था, लेकिन मैं हृदय से विवश था।

लाइब्रेरी से पुस्तकें जारी कराने के अलावा मैंने पुस्तकें खरीदना भी शुरू कर दी थीं। इसके लिए मैं ऊपर बता चुका हूं एक स्थान नक्खास का बाजार था, जहां अन्य पुरानी वस्तुओं के अलावा पुरानी पुस्तकें भी काफी सस्ते दामों में मिला करती थीं। इसके अतिरिक्त एक दुकान नजीराबाद के एक गली के नुक्कड़ पर थी। यह अनन्य रूप से पुरानी पुस्तकों, वह भी ज्यादातर अंग्रेजी पुस्तकों और मैग्जींस की दुकान थी। इसका मालिक काफी समझदार था। लेखकों और पुस्तकों के बारे में उसे अच्छा ज्ञान था। वैसे तो अन्य पुस्तकें भी वहां उपलब्ध थीं, लेकिन ज्यादातर साहित्यिक पुस्तकें थीं। ग्राहक को दो-चार पुस्तकें दिखाते ही वह समझ जाता कि उसकी रुचि किन किताबों में है। मुझे उसने जल्दी ही भांप लिया कि मैं साहित्यिक पुस्तकों का प्रेमी हूं और मेरे लिए वह वैसी ही किताबें छांटकर रखता। चार्ल्स लैंब, ए. जी. गार्डिनर के निबंधों की पुस्तकें मैंने उसी के यहां से खरीदीं। इसी तरह डैफन डू मारिया, एच. जी. वेल्स की कहानियों आदि की पुस्तकें भी मैंने वहीं से खरीदीं। नक्खास बाजार की तरह उसकी दुकान पर पुस्तकें ज्यादा सस्ती नहीं थी, लेकिन अब मैं इस स्थिति में था कि महंगी पुस्तकें भी खरीद सकूं और मुझे उस दुकान का स्थायी ग्राहक बनते देर नहीं लगी।

इंटर भी इस तरह निकल गया। बी.ए. में मैंने साइंस छोड़ दी और विश्वविद्यालय के कला संकाय में अंग्रेजी विषय के साथ बी.ए. में एडमीशन ले लिया। विश्वविद्यालय का पुस्तकालय, टैगोर लाइब्रेरी बहुत समृद्ध थे, किंतु यहां एक बंदिश थी। विद्यार्थी पुस्तकें इश्यू कराकर घर नहीं ले जा सकते थे। लाइब्रेरी के हॉल में बैठकर ही उन्हें पढ़ सकते थे, जिससे मैं संतुष्ट नहीं था। अतः मेरा नक्खास और नजीराबाद से पुस्तकें खरीदना जारी रहा। इस दौरान मेरा लिखना भी शुरू हो गया था। पहले अंग्रेजी में और बाद में हिंदी में। यह इसलिए कि मुझे बी.ए. और बाद में अंग्रेजी में ही एम.ए. करने के दौरान इस बात का एहसास हो चुका था कि अंग्रेजी में लिखना किसी भी भारतीय के लिए, जो विदेश में न रहा हो, असंभव नहीं तो मुश्किल काम जरूर था। इसीलिए हार मानकर मैंने हिंदी में लिखना शुरू किया, यद्यपि ऐसा करने से पूर्व मैं अंग्रेजी में बेकन के स्टाइल में कितने ही लेख, एक नाटक, जो कुछ-कुछ रोमियो-जुलियट जैसा था, टैगोर की गीतांजलि की तर्ज पर कितनी ही कविताएं आदि लिख चुका था।

यह सन् पचास-पचपन के दौर की बात है, जब जवाहरलाल जीवित थे और अभी दस-पंद्रह वर्ष उन्हें और जीवित रहना था, लेकिन मैंने उनकी मृत्यु की कल्पना करके टेनिसन की 'ओड आन द डेथ आफ वेलिंग्डन' की तर्ज पर एक लंबी कविता अंग्रेजी में ही लिख डाली थी। यह कविता मेरी दृष्टि में बहुत ही महान थी और जैसा कि बायरन के बारे में कहा जाता है कि वह एक रात सोकर उठा तो स्वयं को प्रसिद्ध पाया, उसी तरह मैं इस मुगालते में कि जवाहरलाल की मृत्यु के पश्चात् मेरी यह कविता छपेगी तो मैं भी एक विख्यात व्यक्ति हूंगा, वह कविता मैंने संभालकर रख दी। जवाहरलाल उसके बाद काफी दिनों जिए और अंततः जब उनकी मृत्यु हुई तो मेरी अक्ल ठिकाने आ चुकी थी और वह कविता न जाने कहां खो चुकी थी। बहरहाल अंग्रेजी में इस तरह की मशक्कत करने के पश्चात् एम.ए. पास करते-करते मैंने हिंदी में लिखना शुरू कर दिया था, यद्यपि अंग्रेजी की पुस्तकों से मेरा प्रेम अब भी बना हुआ था।

हिंदी के लेखकों में सबसे पहले जिनकी पुस्तकों से मेरा परिचय हुआ, वह प्रेमचंद थे। मैंने उनकी जितनी भी कहानियां और उपन्यास मुझे मिले, सभी पढ़ डाले। सभी मुझे इतने पसंद आए कि एक प्रकार से मैं उनसे अभिभूत था। संभवतः वह प्रेमचंद का ही प्रभाव था कि मैंने हिंदी में लिखना शुरू किया। बाद में हिंदी के लेखकों में यशपाल, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा आदि की पुस्तकों से मेरा परिचय हुआ। एक बात मैं बताना भूल गया। पुस्तकें पढ़ने से ज्यादा मुझे उनकी गंध बहुत अच्छी लगती, खासतौर से नई पुस्तकों की। अपने घर की छत के आंगन में चारपाई पर लेटा मैं कोई भी नई पुस्तक पढ़ता होता तो उसे अपने चेहरे पर रख देर तक सूंघता रहता।

हिंदी में लिखना शुरू करने के बावजूद अंग्रेजी पुस्तकों, विशेषकर कहानी और उपन्यासों के प्रति मेरा लगाव बना रहा। 1955 में एम. ए. करने के पश्चात् मैंने रिजर्व बैंक में नौकरी कर ली। वहां कुछ मित्रों के साथ मिलकर मैंने 'साहित्योदय' नाम का एक बुक-क्लब बनाया, जिसमें हम लोग आपस में पैसे जमा करके पुस्तकें खरीदा करते और बाद में लाटरी डालकर उन्हें आपस में बांट लेते। सोमरसेट याम, हेमिंग्वे, गोर्की, टालस्टाय आदि की पुस्तकें मैंने इसी क्लब के द्वारा खरीदकर पढ़ीं। हिंदी में जैनेंद्र, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी आदि की पुस्तकें भी मुझे इसी क्लब द्वारा पढ़ने को मिलीं।

इसी दौरान पता नहीं कैसे मेरी रुचि पेरा मेसन, अगाथा क्रिश्ती, इयान फ्लेमिंग आदि में भी जगी। खास तौर से जब कभी मैं ट्रेन के सफर में होता तो इन्हीं पुस्तकों को पढ़ते हुए मेरा समय कटता। साइंस फिक्शन भी मुझे काफी भाता। इस तरह की कोई किताब मुझे मिल जाती तो उसे बड़े चाव से पढ़ता।

तब से न जाने कितना पानी इस देश की नदियों में बह गया होगा। हिंदी के लेखकों की पीढ़ियां-दर-पीढ़ियां गुजर गईं। नागर, यशपाल, भगौती बाबू आदि के बाद रेणु, राकेश, अज्ञेय, भीष्म साहनी, राही मासूम रजा, कमलेश्वर आदि की रचनाओं से गुजरने का सुअवसर भी मुझे मिला। कविता में विशेषकर नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, मुक्तिबोध की पुस्तकों में मेरी रुचि जागी और उन्हें हासिल करके उन्हें भी पढ़ा। इन लेखकों से मिलने का अवसर भी मुझे मिला। कितनों से ही व्यक्तिगत संबंध भी रहे, जो मेरे लिए आज भी गर्व की बात है। विदेशी लेखकों में कामू, काफका, ब्रेख्त (नाटककार) मारखेज, सलमान रुशदी आदि लेखकों में मेरी रुचि बराबर बनी रही। पुस्तकें उन दिनों इतनी महंगी नहीं थीं। मेरे पास पेंग्विन आदि की उस जमाने की पुस्तकों पर जो दाम छपे हैं, वह एक-डेढ़ रुपये के आसपास हैं। पुस्तकों के पृष्ठ (खास तौर से लेखकों के चित्र आदि) फाड़ने की गंदी आदत से मैंने विद्यार्थी काल (इंटरमीडिएट) में ही कान पकड़कर प्रायश्चित कर लिया था। लाइब्रेरी का सदस्य मैं अब भी हूं, क्योंकि सारी किताबें खरीद पाना आज किसी के बस की बात नहीं है।

मेरे एक बुजुर्ग कहा करते थे कि जब तक सांस रहे, आदमी को पुस्तकों का साथ नहीं छोड़ना चाहिए। पढ़ न सके तो उनका सिरहाना बनाकर सो जाए। निश्चय ही वह व्यक्ति बहुत ही भाग्यशाली होगा, मरते समय जिसके बिस्तर पर दो-चार पुस्तकें अवश्य हों।

बी-1/1, सेक्टर-के, अलीगंज, लखनऊ-226024, मो. 09453943977

उपन्यास

औरत की मुक्ति का परचम

विजय शर्मा

'अपना खुदा एक औरत' की औरत सफ़िया बिना बड़बोलेपन के अपना स्थान समाज में मुकर्रर करती है। पहली बार पढ़ने पर यह एक स्त्री की निजी कहानी लगती है, लेकिन गहराई से देखने पर ज्ञात होता है कि वह व्यक्तिगत जैसी लगने वाली कहानी अपने आपमें सारी औरतों की कहानी के साथ-साथ देश की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक-सांस्कृतिक दुनिया की कहानी को समेटे हुए एक नई दुनिया बनाने की कहानी है। एक ऐसी दुनिया, जहां औरत केवल पुरुष की संपत्ति न होकर एक स्वतंत्र इकाई है, जहां वह अपने भले-बुरे निर्णय खुद ले सकती है और अपने निर्णय पर चलने का हक रखती है। जहां वह पुरुष की सहभागिन है, गुलाम नहीं।

सत्रह साल की दीनी तालीम पाई सफ़िया अपने से बारह साल बड़े अब्बास से ब्याही जाती है। ब्याही जाती है ताकि वह उसे दीन के रास्ते पर ला सके। अब्बास अपने परिवार से अलग मिजाज का है। उसके विचार उसे साफ बोलने और सही करने की इजाजत देते हैं। जल्दी ही सफ़िया अब्बास के रंग में रंग जाती है। कारण अब्बास उसे एक इन्सान समझता है, मगर अपनी ससुराल लखनऊ पहुंचते ही उसका सामना अपनी सास लेडी ज़ीनत जाफ़री से होता है। यही पल था, जिससे ज़ीनत बेगम के साथ चलने वाली जीवन भर की ठंडी जंग की शुरुआत हुई। बेगम ज़ीनत एक समानांतर सरकार चलाती हैं। अपने साम्राज्य की वे सर्वेसर्वा हैं। उन्हें इस बात का भान भी नहीं है कि वे जिसे अपनी जीत सोचती हैं, वह असल में उनकी हार है, क्योंकि वे जो सोचती-विचारती हैं, जो बात व्यवहार करती हैं, वे सत्ता के वही खेल हैं, वही सारे दांव-पेंच हैं, जो पुरुष खेलता है। वे सत्ता के मद में अपना ही नुकसान करती चलती हैं। अपने पति, बेटे को अपनी राह से हटाने में नहीं हिचकती हैं। वे पुरुषोचित कौशल से यह सब साधती हैं, उन्हें गुमान है कि सब उनकी मुट्ठी में है, सब उनके गुलाम हैं, यहां तक की मुल्ला-मौलवी भी। वे भूल जाती हैं कि मुल्ला किसी भी सत्ताधारी के तलवे चाट सकते हैं। उन्हें इसमें कोई गुरेज न होगा, भले ही वे तलवे किसी औरत के ही क्यों न हों। और भला क्यों न चाटें। चंदे की इतनी बड़ी रकम यूं ही तो नहीं मिलती है। जो औरत दूसरी औरत की भलाई के लिए कदम उठाने की हैसियत रखती है, वह कभी उनके भले की नहीं सोचती है, खासकर उन औरतों के भले की तो बिल्कुल नहीं, जो जरा भी सिर उठाने की हिम्मत रखती हैं। जिसने भी उनकी

सत्ता को आंख उठाकर देखा, उसे वे नेस्तनाबूद करके ही दम लेती हैं। चाहे वह उनकी गुलाम लाडली हो या उनकी अपनी छोटी बहू सफ़िया, मगर सफ़िया उनकी रियाया नहीं है।

गुजरे जमाने की, पर्दे के भीतर से शरियत के नाम की माला जपती हुई इस औरत को देखकर फ़ेडरिको गार्शिया लोर्का 'हाउस ऑफ बर्नडा आल्बा' की आल्बा की याद आती है, जिसका पूरी तरह से भारतीयकरण करके गोविंद निहलानी ने 'रुक्मावती की हवेली' बनाई। हालांकि आल्बा या रुक्मावती इतनी क्रूर नहीं थीं, जितनी 'अपना खुदा एक औरत' की लेडी ज़ीनत हैं। अपने घर में अपने नशे में चूर ज़ीनत बेगम मौलवी से गुलाम लड़कियां खरीदती हैं, उन्हें जानवरों की तरह तेल पिलाई बेंत से पीटती हैं। नंगा करवाकर दागती हैं, और जरूरत पड़ने पर मरवा डालती हैं। उन्हें अपने पति की गर्भवती प्रेमिका को मरवाने में कोई हिचक नहीं होती है और न ही पति को घायल कर बंदी बनाने में। पति के लकवाग्रस्त होने पर पति के नाम से तमाम उल्टे-सीधे काम करती हैं। उनके जासूस उन्हें पल-पल बाहर की खबर देते रहते हैं। ''लेडी साहब सीधी पूछताछ कभी नहीं करती थीं। उनका जासूसों का जाल इतना फैला हुआ और मजबूत था कि मामूली-सी बड़बड़ाहट—कैसे पैसा आजकल पानी होता जा रहा है—से ही जांच-पड़ताल का रेला शुरू हो जाता।'' उनका छोटा बेटा अब्बास उनसे कहता है, ''आप सिर्फ हुकूमत करना चाहती थीं, हुक्म देना जानती थीं। घर आपका किला, जिसमें आपकी हुक्मरानी और हम सब आपकी रियाया।'' उनका विश्वास था कि वे सबको साथ रखना चाहती थीं। इस पर अब्बास कहता है, ''नहीं। आपने सबको अपने बस में किया, जिससे परिवार तहस-नहस हो गया। हम एकजुट होते तो ताकत होते, पर आपने जो हमारे बीच शक बोया है, उसकी वजह से हमारे बीच रिश्ते की गहराई है ही नहीं। हमेशा दूसरे की हरकतों में चाल, धोखाधड़ी ढूंढ़ते रहते हैं। बाबा सबसे पहले खूंटा तुड़ा रहे हैं। हम सब भी एक-एक करके बिखर जाएंगे।'' औरत की एक ताकत का नाम ज़ीनत बेगम है तो दूसरी ताकत का नाम सफ़िया है।

'अपना खुदा एक औरत' एक औरत के इन्सान बनने की जद्दोजहद की कहानी है। यह उपन्यास बदलते नजरिए (पैराडिम शिफ़्ट) की तस्वीर प्रस्तुत करता है, एक ऐसे भविष्य का खाका खींचता है, जहां औरत-मर्द साथ मिलकर जीवन साझा करेंगे। यह समाज से सामंती युग और सोच की समाप्ति की बात करता है। इसे आसानी से भविष्योन्मुखी उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। यह मात्र यूटोपिया नहीं है। यह संभव है। उसी दिन संभव हो जाएगा जिस दिन औरतें औरतों का साथ देने खड़ी हो जाएंगी। बिना धर्म, बिना उम्र, बिना आर्थिक, सामाजिक भेदभाव के औरतें एक-दूसरे के साथ खड़ी होंगी। औरत की आजादी का मसला सिर्फ उसकी आजादी का मसला नहीं है। यह पुरुष की आजादी का भी मसला है। बिना आधी दुनिया की आजादी के कैसी आजादी? यह सारे समाज, सारी दुनिया की आजादी का मसला है। इसे यूं ही नहीं टरकाया जा सकता है।

सफ़िया एक पुरुष वर्चस्ववादी समाज में रह रही है। उसे हर कदम पर अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए संघर्ष करना है। उसके संघर्ष के कई आयाम हैं—घर-परिवार, समाज, धर्म-मुल्ला-मौलवी। यह व्यक्तिगत लड़ाई फैलते-फैलते पूरी स्त्री जाति की लड़ाई में परिवर्तित हो जाती है। समस्त स्त्री जाति की अस्मिता और अस्तित्व की लड़ाई बन जाती है। हर बार जब वह संघर्ष के लिए उठती है, दूसरों को साथ लेकर चलना चाहती है। संगठन की गुहार लगाती है। अक्सर लोग अपने बंद दरवाजे नहीं खोलते हैं। उसकी अपनी बेटी और उसकी सहेली अमृता भी अपने-अपने पुरुषों के भय से शुरू में उसका साथ नहीं दे पाती हैं। सफ़िया स्वयं को बार-बार रवींद्रनाथ टैगोर की 'एकला चलो रे' की याद दिलाती है और हिम्मत करके अकेली ही चल पड़ती है। शुरू में वह परेशान थी, दिशाहीन थी, दुखी थी, लेकिन निराश नहीं थी। उसका संघर्ष जारी रहता है। कभी कामयाबी मिलती है, कभी नहीं भी मिलती है। अक्सर नहीं मिलती है, पर वह संघर्ष करती जाती है, क्योंकि इसके अलावा चारा क्या है? हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहने से तो काम नहीं चलेगा। लड़ाइयां हारी जाती हैं, युद्ध तो जारी रहता है। सफ़िया विश्वास और साहस के साथ चलती चली जाती है। एक समय ऐसा आ जाता है, जब उसकी बेटी और सहेली भी उसकी राह पर चल पड़ने का संकल्प करती हैं। और भी कई अप्रत्यक्ष रूप से उनके साथ हो लेती हैं। जब तीन लोग एक राह पर चल पड़े, तब परिवर्तन को कौन रोक सकता है? मगर लड़ाई लंबी है।

'अपना खुदा एक औरत' का कालखंड आजादी के पहले से लेकर शाहबानो केस तक फैला हुआ है। यह उपन्यास तर्क और तमाम उदाहरणों के साथ सिद्ध करता है कि शरियत का पहला निशाना औरत बनती है। उसके इल्म और पढ़ने पर सबसे पहले पाबंदी लगाई जाती है। यह बताता है कि ईमान पुश्तैनी नहीं होता, कि मज़हब और ईमान में फर्क होता है कि इस्लाम ने औरत को कई हक बख्शे हैं और उस बख्शीश के सिलसिले में कई हक छीन लिए हैं। सफ़िया को ''नौ बरस की उम्र से पर्दे में बिठा दिया गया था, जब उसने बच्चों की पत्रिका 'गुंचा' के लिए एक कहानी लिखी थी। एडिटर ने कहानी भी छापी थी और उसे शाबाशी का एक पत्र भी लिखा। इतना काफी था उसके दादा के लिए, उसे पर्दे में कैद करने के लिए, क्योंकि उसके पास गैर मर्दों के खत आने लगे थे।'' मगर नूर ज़हीर की नायिका सदैव पुरुष को साथ लेकर चलती है। पुरुष के साथ चलती है। वह पुरुष के खिलाफ नहीं है। उसे मालूम है कि स्त्री-पुरुष को साथ मिलकर ही चलना है। बहुत सारे पुरुष उसके साथ हैं। यहां सर ज़ाफरी जैसे समझदार ससुर और जज हैं, अब्बास जैसा पति है, तो इसी समाज के पटवर्धन, मास्टरजी, स्टेशन-मास्टर जैसे पुरुष भी उसके साथ हैं।

उपन्यास परिवर्तन की बात करता है। अब्बास कहता है, ''हां, मैं शरियत की बहुत-सी आयतों को पुरानी हो गई मानता हूं। उन्हें रद्द करके उनकी जगह नए आईन लिखे जाने चाहिए, जो आधुनिक और इन्सान-दोस्त हो।'' आगे वह कहता है कि वह शरियत को सुधारने की कोशिश नहीं करता है, सिर्फ कहता है कि ऐसा करने की शदीद जरूरत है।

शाहबानों के संदर्भ में नूर ज़हीर स्त्री, राजनीति और सत्ता, सबका चेहरा उघाड़ती है। सबके मुखौटे गिराती है। उपन्यास औरत की अहमियत को रेखांकित करता है, ''सच है, कोई लड़ाई अकेले नहीं लड़ी जाती, कोई जीत भी तन्हा हासिल नहीं होती। वह युद्ध का परचम चाहे न फहराए, युद्ध होगा तो उसी की

वजह से। वह लौ न सही, लेकिन वह शांत ठहरा हुआ तेल होगी, जो खामोशी से तरक्की की लौ को जलाए रखेगी। उसी की वजह से लौ जिंदा रहेगी, भभककर बुझ नहीं जाएगी। वह जो बार-बार जन्म लेगी, क्योंकि धरती की गुजर, बगैर जगत्धात्री के नहीं हो सकती, वह हस्ती, जो अंधेरे जज्ब करके रोशनी देगी, ताकि दुनिया अपना रास्ता पा सके। यही है वह विजयी, स्वावलंबी, असाधारण, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी। अगर कोई खुदा है और वही जिम्मेदार है कुदरत की मुतवातिर रफ्तार का, तो वह खुदा औरत के सिवा और कौन हो सकता है?''

यह उपन्यास बड़ी शिद्दत के साथ भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन के उतार-चढ़ाव को भी रेखांकित करता है। यह दिखाता है कि एक स्वतंत्र दृढ़ निश्चयी व्यक्ति को संगठन भी नहीं पचा पाता है। उसका ससाथ देने की हिम्मत संगठन के सदस्य नहीं कर पाते हैं। उसे तोड़ने का हरसंभव प्रयास किया जाता है। अब्बास को कुछ लचर से इल्जाम लगाकर पार्टी से निकाल दिया जाता है। आत्म आलोचना के नाम पर मीटिंग बुलाकर उससे कहा जाता है, ''कॉमरेड अब्बास ज़ाफरी, आपको छः साल के लिए मार्क्सिस्ट पार्टी से निकाला जाता है।'' निकाले जाने से वह खुद को बेबस, अकेला पाता है। उसकी खता बताई जाती है, ''आपने पार्टी की अनुमति के बगैर एक किताब लिखी और छापी। आपने शरियत की निंदा की। केवल निंदा ही नहीं, आपने शरियत को, इस देश में मुसलमान औरत की दुर्दशा का जिम्मेदार ठहराया।'' असल बात है कि पार्टी चुनाव लड़ने वाली थी और अब्बास ने 'लपटें' लिखकर, ''बड़ी आसानी से देश की बीस प्रतिशत आबादी को पार्टी से विमुख कर दिया। यही बड़ी जनसंख्या हमारे साथ होती।'' हर राजनैतिक पार्टी की तरह इस पार्टी को भी सच्चाई से कुछ लेना-देना नहीं है, केवल अपने वोट बैंक से मतलब है। भारत में मुसलमान एक बड़ा वोट बैंक है। उसे कोई पार्टी नाराज नहीं करना चाहती है। भले ही पार्टी के उसूल भाड़ में जाएं।

उपन्यास 'अपना खुदा एक औरत' एक समय की हमारे समाज की समन्वय संस्कृति के कई नमूने पेश करता है। इरफ़ान और कात्यायनजी नानबाई की दुकान में अक्सर एक साथ दिखाई देते हैं। सफ़िया की नवजात बच्ची को परिवार का कोई सदस्य आशीर्वाद नहीं देता है। कात्यायनजी बच्ची की बंद मुट्ठी खोलकर उसमें चार आने रखते हैं। सफ़िया अमृता के यहां रहती है, जहां शाकाहारी खाना ही खाया जाता है। मर्सिया गाया जाता है, दीवाली बीतने से साल के मौसम का आगाज़ होता है। मुज्तबा साहब के 'साजिदा हुसैन मुस्लिम गर्ल्स स्कूल' में हिंदू लड़कियों भी पढ़ती हैं और जिसे सुनार झुनझुनजी चंदा देते हैं।

उपन्यास लखनवी नज़ाकत से लिखा गया है, मगर भीतर से तपा हुआ फौलाद है। गुजरे जमाने का लखनऊ यहां है और आज की दिल्ली भी इसमें बहुत खूबी से चित्रित है। असल में दिल्ली का भूगोल नहीं वरन यहां के सियासतदां की मानसिक बनावट-बुनावट का इसमें अच्छा लेखाजोखा मिलता है। राजनैतिक-सांस्कृतिक वातावरण को इसमें भरपूर उकेरा गया है। आजादी के बाद होने वाले संस्कृति स्खलन का बहुत सुंदर चित्रण इसमें है। सज्जाद ज़हीर की बेटी से ऐसे ही उपन्यास की उम्मीद होनी थी। मैंने मूल इंग्लिश वर्सन 'माई गॉड इज़ अ वूमन' नहीं पढ़ा है। वैसे हिंदी नाम थोड़ा अटपटा रखा गया है। अनुवाद लेखिका ने स्वयं किया है और नूर ज़हीर कई भाषाओं की जानकार हैं। हिंदी, उर्दू, इंग्लिश तीनों उनकी अपनी भाषाएं हैं, अतः अनुवाद में कहीं अनुवाद की बू नहीं है। मूल का मजा आता है। वैसे इसमें शक नहीं कि यदि इसे हिंदी या उर्दू में लिखा जाता तो इसकी तासीर कुछ और होती। राजेंद्र यादव के अनुसार सारे धर्म औरत के दुश्मन हैं। आदमी के पक्ष में खड़े हैं। वे अपनी किताब 'आदमी की निगाह में औरत' में कहते हैं, ''स्त्री की मुक्ति पूरे समाज की मुक्ति है, क्योंकि मुक्ति कभी अकेले नहीं मिलती...'' यह उपन्यास भी इसकी ताईद करता है।

अपना खुदा एक औरत/नूर जहीर/प्रकाशक : हार्पर कालिंस पब्लिशर्स, इंडिया, ए-53, सेक्टर-57, नोएडा-201301, मूल्य : ` 199

151, न्यू बाराद्वारी, जमशेदपुर-831001 (झारखंड)
मो. 09430381718

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्त्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिंदा एक लाख पृष्ठ **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएंगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्त्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अंतर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा, जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** में म.गां.अं.हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री—यथा संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा, जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएं अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएं। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केंद्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

खेल-खेल में

अरुण कुमार

खेल का तमाशा हिंदी के कथा-साहित्य में तमाशा भी नहीं बन सका। बहुत पहले प्रेमचंद ने खेल का वर्ग चरित्र (गिल्ली-डंडा और शतरंज के खिलाड़ी) दिखाने की कोशिश की थी। बाद के कथाकार ने इसमें मानो खुद को अलग ही कर लिया। बांग्ला में पत्रकार मति नंदी के कई विश्वसनीय उपन्यास नब्बे के दशक में आए। तब भी हिंदी के कथा-साहित्य में खेल कोई विषय ही नहीं बन सका। नई सदी में ध्यान भी गया, अशअर उरैनवी (दंश) आदि कथाकारों का तो उनके मूल में भारत-पाकिस्तान क्रिकेट मैच के बहाने अल्पसंख्यक की दुविधा प्रमुख थी। आज के भारत में न खेल हमारी शिक्षा का अंग है और न हमारी दिनचर्या का। हिंदी के अखबारों में खेल पत्रकार एक या अधिकतम दो ही होते हैं। इस कड़ी में रमेश दवे का उपन्यास 'खेल गुरु' भारत में खेल की राजनीति को समझने के लिए बिल्कुल अलग तरह की रचना है। अलग इसलिए कि यह दस्तावेज नहीं, खेल के तथ्यों की बारीक जानकारी से ज्यादा पुख्ता नजर देती है। सरकार किस आंख से खेल को देखती रही है और किस आंख की जरूरत है, इन दोनों रिक्तियों को भरने के लिए कोई दूसरा लेखक बढ़िया रिपोर्ट लिखकर उपन्यासकार होने का दावा कर सकता है, परंतु रमेश दवे की कलम में उसके लिए रोशनाई नहीं थी। क्यों नहीं थी, उसका जवाब इन शब्दों में, ''वह तो हार को भी जीत कहती है।'' खेल की आत्मा यही है। पराजय दर्शक के लिए निराशा की कुंजी बन सकती है, लेकिन खिलाड़ी के लिए वह स्थिति भी 'स्थित प्रज्ञ' है। अब मीडिया इसे जितना उछाले। भला शोएब अख़्तर (पाकिस्तान) ने सचिन तेंदुलकर के बारे में क्या कह दिया कि मीडिया के बहाने खेल के दर्शक भी शोएब को अपना निशाना बना गए। शोएब हों या वसीम, उनकी गेंद पर सचिन के पांव का कांपना कोई 'स्टोरी' नहीं है। ऐसे में उन्हें कभी आउट नहीं होना चाहिए था।

यहां खेल के प्रति समर्पण कहां है? रमेश दवे के इसी उपन्यास में वसुधा के कोच वासुदेवन उसे आशीर्वाद और शुभकामनाओं के बदले खेल के प्रति समर्पण की सीख देते हैं। खेल की एक परिभाषा देते हैं, ''मानसिक और शारीरिक संतुलन।'' दर्शक से भी उसी संतुलन की उम्मीद की जाती है। तभी तो एशियाड ओलम्पिक (1951) के अवसर पर जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, खेल को खेल की भावना से खेलो। और सच में इस उपन्यास की नायिका लांग जम्प की खिलाड़िन वसुधा के कमरे में लॉन टेनिस की महान खिलाड़ियों नवरातिलोवा और स्टेफी ग्राफ की खेल-मुद्रा के पोस्टर लगे हैं। सोच उसके अभिभावकों का है। वसुधा के लिए खेल की दुनिया देश

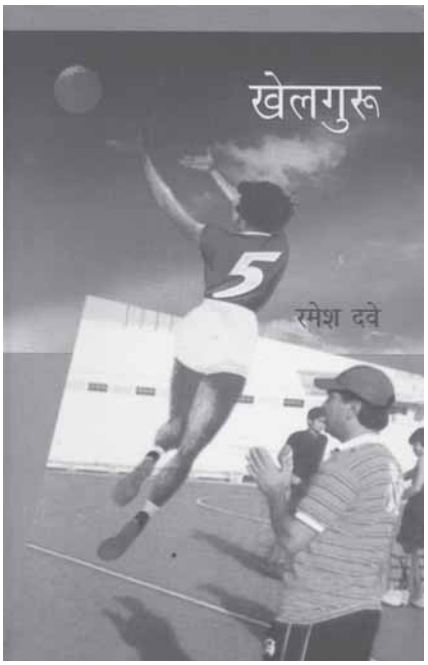

से बड़ी दुनिया है। देश के लिए खेलना है, देश के लिए जीतना भी है, लेकिन खेल-भावना के साथ। इस उपन्यास में यह समझ किसी वक्तव्य के रूप में नहीं, एक परिदृश्य चित्रण के रूप में आई है। एक खिलाड़ी के लिए अपने इर्द-गिर्द का भूगोल, इतिहास भी कुछ मानी रखता है। उसकी खेल-भावना में जीत-हार एक मौका है या चांस है। मुझे ब्राजील फुटबॉल टीम का फारवार्ड रोनाल्डिन्हो का हमेशा मुस्कराता चेहरा याद हो आया। गोल खाओ, तब भी वही मुस्कान।

मेरी दृष्टि में किसी उपन्यास का दस्तावेज बन जाना उसकी असफलता है। पाठक इतिहास जानने नहीं आया है। उपन्यास पढ़ने का मतलब एक अनुभव को ही जानना नहीं है। रमेश दवे का यह उपन्यास कई कोणों से खेल के प्रति कुंद हो रही भावना को जगाता है। एक कोण है कुछ लिखने के बहाने एक खिलाड़ी को तैयार करने की पोथी। इस उपन्यास को पढ़ते समय भी यह अहसास जरूर होता है। तिरुअनंतपुरम का राष्ट्रीय खेल संस्थान। वहां खिलाड़ियों के प्रशिक्षण के तौर-तरीके, परंतु इस ब्यौरे में कुछ खास है, जो संवाद-शैली में प्रकट हुआ है। संवाद में इतनी चुस्ती जैसे किसी खिलाड़ी के जिस्म और उसके कपड़े में होती है।

रमेश दवे खेल की दुनिया में लड़कियों के आने के सामाजिक सवालों से टकराते हैं। इस दृष्टि से 'खेल गुरु' राष्ट्रीय प्रशिक्षण संस्थानों के कई मर्म खोलता है। आखिर लड़कियां खेल की दुनिया में कैसे आएंगी? वसुधा को प्रशिक्षण देते समय उसे कुछ सवालों से बेवजह सामना करना पड़ता है,

''बदन में ज्यादा कसावट या दर्द तो नहीं?

ब्रा इज ओ.के.

टू सम एक्सटेंट, सर!

सर, ज्यादा ढीला रखूंगी तो ब्रेस्ट्स ब्रा से बाहर खिसक जाएंगे।''

लगभग बीस-पचीस साल पहले तक खेल संस्थानों में शारीरिक प्रशिक्षक (फीजिकल ट्रेनर) और कोच पुरुष ही होते थे और पुरुष ट्रेनर और कोच ही लड़कियों की शारीरिक जांच भी करते थे। इस क्रम में कई बार ट्रेनर या कोच स्त्री खिलाड़ियों से विवाह करते रहे हैं। वसुधा जाए कहां? ओलंपिक का मेडल भी उसे मिल जाए। वह लांग जम्प में विश्व-कीर्तिमान तोड़कर नया कीर्तिमान बना दे। यह सब अपनी जगह है। ये उपलब्धि उसकी योगयता की मापक है। इसके बाद आखिर वसुधा जाए कहां? उसका कोई सामाजिक जीवन भी है या वह खेल से ही रिश्ता जोड़कर अपने जीवन का अंत कर लेगी। रमेश इस प्रश्न को बहुत एकाग्रचित्त और शिद्दत से उठाते हैं। उन्हें जैसे पुरुष कोच मिलते हैं, ट्रेनर मिलते हैं, उनके लिए मनचाहे अनुशासन को पार कर जाना या उन्हें चुनौती देना नए संकट को बुलाना है। इस उपन्यास के अंत में वसुधा अपना जीवन साथी चुन लेती है। अपने मन का जीवन साथी चुनती है। बहुत समय नहीं गुजरा है सानिया मिर्जा के परिणय सूत्र में बंधने को। सानिया की पोशाक पर इस्लाम और हिंदू पंडितों ने सवाल उठाए। कोई भी लड़की खिलाड़ी सलवार-सूट पहनकर खेलने से रही। अगर उसे ड्रेस और खेल और अपने धार्मिक आचार में ही चुनाव करना हो तो एक परंपरागत लड़की धार्मिक आचार का ही चयन करेगी। खेल का चयन करना सानिया जैसी खिलाड़ी और खेल की भावना में तप चुकी बालाओं से ही संभव है। ठीक है उपन्यास 'खेल गुरु' में भी वसुधा के कोच की नसीहत है, ''...खेल में खेल या खिलाड़ी ही नहीं जीतता, जिस्म का हिस्सा-हिस्सा जीतता है, मैदान जीतता है, अभ्यास जीतता है, प्रशिक्षण जीतता है, कोच जीतता है...।'' परंतु कुल मिलाकर वसुधा को क्या मिलता है, सोने का मेडल। कंपनियों के अखबारों में उसकी शोहरत। कहीं कंपनियां उसे रख लें, अपने यहां जगह दे दें, भाग्य उसका! कहीं उसका पारिवारिक जीवन पटरी पर आ जाए। किस्मत उसकी। वसुधा आने वाले खतरों का पूर्वानुमान लगा लेती है। अपने साथी का चुनाव कर लेती है। आखिर उसे खेल के विपरीत एक निर्णय लेना पड़ता है।

अपने शौक के लिए कुर्बानी या किसी हद तक जाने का जज्बा रखना किसी भी खिलाड़ी या स्त्री खिलाड़ी के लिए खतरनाक और दर्दनाक हो सकता है। पुराने समय में पहलवानों के अंतिम समय का जीवन बड़ा दुखदायी होता था। रमेश अपने इस उपन्यास में वसुधा को एक खास मुकाम पर पहुंचाते हैं, बखूबी और पूरे कौशल से। इसके पीछे कारण वही है। स्त्री खिलाड़ियों का द्वंद्व, उनकी दुविधा, जिनसे कोई कंपनी, खेल को स्पांसर करने वाली कंपनी टकराने से रही। किसी व्यवस्था को इससे क्या लेना-देना। उपन्यास का लेखक इस पीड़ा को काफी दूर तक समझ सका है। वसुधा को मैदान में बिल्कुल अकेले छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। वह पीड़ा बहुत असह्य होती। ऐसा कहकर मैं इस उपन्यास को औसत नहीं मान सकता हूं। यह उपन्यास बेहतर है, चुनिंदा है और अपने कौशल में बहुत कसावट लिए है। एक पत्रकार की कलम में इतनी कसावट विरले मिलती है और आज के रिपोर्टी कथा-लेखन के दौर में। युवा कथा-लेखन की फटाफट वाली धारा में यह उपन्यास भले फिट न हो। एक युवा कथाकार मुझ से बोले, ओह, इतनी मेहनत कौन करेगा? अरे, एक ड्राफ्ट में कहानी लिखी गई। रमेश उस पांत के कथाकार नहीं हैं।

जहां खेल स्पांसर होते हैं। बड़ी-बड़ी कंपनियों को समाज में खेल के जरिए अपनी साख बनाने का अवसर मिलता है, वहां रमेश दवे की नायिका वसुधा के द्वंद्व का कोई मानी नहीं है। आजकल अखबारों में किसी क्रिकेट खिलाड़ी के परिणय सूत्र में बंधने की खबर पहले पन्ने पर होती है। बाकी खिलाड़ी में प्रतिभा शायद ही हो। उसकी हरकत की सांस का कोई पल अखबार की खबर काहे को बने। इस उपन्यास में आए एक प्रसंग में खिलाड़ी तो नहीं है, लेकिन उसकी आंतरिक उलझन सामने आती है। किसान के खून-पसीने का कोई माली नहीं है, ''न अनाज के बोरों में, न फास्ट फूड डिब्बों पर, न कंपनियों के ब्रांड्स पर, होर्डिंग्ज पर।'' यह वसुधा के विचारों का स्तर है। वह कोई क्रिकेट की खिलाड़ी नहीं है, जो फटाफट अंग्रेजी बोल सके, सिने युवक-युवतियों को लुभा सके। भारत के खेल-संसार में एथलीट का महत्त्व कर्णम मल्लेश्वरी और अंजू बॉबी जॉर्ज की तरह है। स्वर्ण पदक ले आई और सरकार कुछ-न-कुछ उसे देगी। लोकसभा या राज्यसभा के किसी सत्र में खेल पर शायद ही सदस्यों की उठा-पटक हुई हो। एक-एक खेल संघ पर पंद्रह वर्षों से कोई सांसद, नेता काबिज है। उसे किसी एथलीट के वैचारिक स्तर का क्या पता?

खेल है, खेल की भावना से खेलना उसके असली लक्ष्य तक पहुंचना है। कोई कारण तो है, जहां ये भावना शिथिल ही नहीं पड़ती, बिल्कुल प्रतिकूल हो जाती है। भारत और पाकिस्तान सबसे अच्छे दोस्त हो सकते हैं, यह देशी-विदेशी कंपनियों के लिए दिलेरी और दिलावर नहीं है। इसी उपन्यास में एक जगह वसुधा का कोच से सवाल है, उसके लांग जंप को स्पांसर करने वाली कोई बड़ी कंपनी मिली है या नहीं? उपन्यास का यह प्रसंग थोड़ा और विस्तार ले सकता था, लेकिन रमेश दवे इसे चलते-फिरते सिमटा देते हैं। कारण हो सकता है, वे खेल पर केंद्रित करना चाह रहे हों। जो कंपनियां स्पांसर करती हैं, वह यौन-शोषण से परहेज क्यों करेंगी। उनके लिए यह रास्ता भी पूंजी उगाने का माध्यम है। भला लांग जंप या डिस्कस के लिए कोई कंपनी क्यों मिले? दवे यौन शोषण और निजी कंपनियों के बीच के रास्ते में उपन्यास को लाकर छोड़ देते तो दोनों के रिश्ते का पता चलता। एक दूसरे प्रसंग में वसुधा की भावना से हम अवगत होते हैं, जब वह भूमंडलीकरण और विश्वग्राम की बात करती है और कहती है कि ये सब यूरोप की सभ्यता का संकट है। वहां भी उपन्यासकार निजी पूंजी और खेल के रिश्ते में दबे पांव आकर लौट जाता है। खेल की दुनिया में राजनीति से परहेज का नाटक जरूर होता है और राजनीति जमकर होती है। मुझे खुद रमेश दवे ने राष्ट्रीय खेल संस्थानों की क्षेत्रीय राजनीति से अवगत कराया। ऐसे कुछ बिंदु हैं, जो विस्तृत फलक पर उपन्यास के कथानक के विकास में काफी दूर तक सहचर होते, लेकिन पेशे से पत्रकार दवे उन बिंदुओं को महज छूते हुए निकल जाते हैं। इधर के उपन्यास में सामानांतर कथानक को विकसित करने का शौक मद्धिम पड़ता जा रहा है।

शायद हिंदी के किसी कथाकार ने खेल की दुनिया पर कलम उठाई हो। अपवाद युवा कथाकार अनुज हैं, जिन्होंने झारखंड की तीरंदाज दीपिका पर एक रपटगीरी शैली की कहानी लिखी। यह प्रसंग भी चौंकाता है कि हिंदी के कथा-संसार में खेल कोई विषय नहीं रहा, जबकि बंगला में खेल पत्रकार (आनंद बाजार पत्रिका) मति नंदी ने खेल पर कई उपन्यास लिखे, स्ट्राइकर, कोनी आदि। 'स्ट्राइकर' फुटबॉल की राजनीति पर था और 'कोनी' तैराकी पर।

दो साल पहले वे दिवंगत हुए। बंगला में उनकी खूब चर्चा रही, लेकिन हिंदी के युवा कथाकार के सोच में 'गिल्ली-डंडा' भी ताजा नहीं हो सका है। मति नंदी भी पत्रकार थे और रमेश दवे भी पत्रकार हैं। शायद उपन्यास लिखने की ये शर्त न बन जाए। ताजा पत्रकारिता में भी खेल की जगह सेंचुरी और विकेट लेने तक सीमित रह गई है। बाकी खेलों के लिए 'साइड कॉलम' इस्तेमाल में आता है। ऐसे में किसी खेल पत्रकार को अपने खेल की बड़ी दुनिया के सिमट जाने का खतरा तो है ही। अब करेगा क्या वह हुकुम मालिक का।

वसुधा का शैक्षिक स्तर आम खिलाड़ियों से ऊंचा है। उसके भीतर देह और आत्मा का द्वंद्व भी चल रहा है। वह दूरदर्शन पर विज्ञापन देखती है। उसके अंदर एक द्वंद्व है। क्या देह विज्ञापन के लिए ही बनी है? वह निर्णय लेने के करीब है ''खिलाड़ी बनकर मनुष्य कम और खिलौना अधिक हो गई हूं।'' वसुधा एथलीट है। गांव से आई है। यों आम एथलीट का शैक्षिक स्तर बहुत ऊंचा नहीं होता। खेल संस्थानों में खेल की शिक्षा और उसके प्रशिक्षण के भीतर शिक्षा के लिए अवकाश कम हैं। दूसरे देशों चीन, जापान, जर्मनी में यही स्थिति नहीं है। जाहिर है, वसुधा ने अपने निजी प्रयासों से कुछ हासिल किया है। उसकी मानसिक बनावट में परिवार और खेल का द्वंद्व शुरू से मौजूद है। फिर राष्ट्रीय खेल प्रशिक्षण संस्थान में जाने के बाद अपने कोच के प्रशिक्षण के तौर-तरीके से वह एक फैसलाकुन स्थिति में आती है, पारिवारिक बनकर रहना है उसे। गोल्ड मेडल पाने के बाद वह अपने साथी खिलाड़ी से परिणय सूत्र में बंध जाती है। यह दुःखद गाथा भी है और किसी लड़की के सपना पूरा होने का अध्याय भी। अंजू बॉबी जॉर्ज या कुछ एथलीट अपवाद हैं, जिनके एथलीट होने में उनके पति सहयोगी बने हैं। वसुधा एक निर्णय ले लेती है। खेल को अलविदा कह देती है।

खेल गुरु/ रमेश दवे/सामयिक प्रकाशन, 3320-21, नेताजी सुभाष मार्ग, जटवाड़ा, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 495

हिन्दी-विभाग, रांची विश्वविद्यालय, रांची-834001, झारखंड मो. 9835196472, 9304265397

फिर वही सवाल : व्यवस्था की उठती-गिरती दीवारें

अर्पण कुमार

भारत सहित दुनिया के कई विकासशील देशों के साहित्यिक परिदृश्य पर एक नजर डाली जाए तो उसके केंद्र में विस्थापन का स्वर किसी-न-किसी रूप में अवश्य उपस्थित है। किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का विस्थापन सिर्फ भावनात्मक स्तर पर नहीं होता, बल्कि इसके पीछे कई सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक दबाव होते हैं, मगर इस बलात् विस्थापन से इतर कई बार व्यक्ति अपने और अपने परिवार के भरण-पोषण की खातिर, बेहतर रोजगार की संभावना की तलाश में भी अपनी जड़ों से दूर जाता है और अपने स्वास्थ्य की कीमत पर प्रदूषित महानगरों और उसके उपनगरों में कुकुरमुत्ते की तरह उग आई फैक्ट्रियों के अमानवीय माहौल में खुद को झोंक देता है।

दिनेश कर्नाटक के पहले उपन्यास 'फिर वही सवाल' में इन मुद्दों को प्रमुखता से उठाया गया है। पहाड़ के परिवेश में पले-बढ़े एक किशोर के माध्यम से उपन्यास की कथा कही गई है। स्वभावतः किशोरजन्य सपने, शिक्षा, खेल-कूद, आदर्शपरकता, अपने घर के लिए कुछ कर गुजरने का जज्बा, अलग-अलग जगहों पर नौकरी की तलाश और इस क्रम में तरह-तरह के खट्टे-मीठे अनुभवों से गुजरना आदि कई अनुभूतिजन्य प्रसंगों का सफलतापूर्वक यहां अंकन हो सका है। 'कमलेश' जैसे एक गरीब घर के लड़के को उपन्यास का 'प्रोटैगैनिस्ट' बनाकर युवा उपन्यासकार ने निम्न-मध्यमवर्गीय ग्रामीण परिवार के घर-आंगन में न सिर्फ झांकने का प्रयास किया है, बल्कि उनकी आशावादी, स्वप्नदर्शी एवं परिश्रमी अगली पीढ़ी के माध्यम से उनकी जीवन-दशा को यथासंभव सुधारने का संकल्प एवं प्रयास यहां दोनों दिखता है। और इसी बिंदु से उपन्यास में अनुस्यूत रचनात्मक तनाव एक उठान लेता है।

'कमलेश' को उसकी शिक्षा के अनुरूप काम नहीं मिलता है और अपना शरीर गलाकर वह जितना कुछ कमा पाता है, उसका एक बड़ा हिस्सा किराया, भोजन, दवाई आदि पर ही खर्च हो जाता है। उसे लगता है ऐसे में वह अपने परिवार के लिए कुछ खास न कर सकेगा। इंटर पास एक युवक अपने शराबी पिता के तानों से तंग आकर और अपने परिवार की दुर्दशा को कुछ कम करने के मकसद से नोएडा की एक फैक्ट्री में काम करने आ जाता है। उसे अपने आसपास का जीवन इतना घटनापूर्ण और विरोधी स्थितियों में घिरा दिखता है कि इन सबकी व्याख्या

वह प्रेमचंद सहित कई बड़े साहित्यकारों के साहित्य में पाता है। कह सकते हैं कि यथार्थ और आदर्श की इसी आवाजाही में उसका मानस तैयार होता है। कहने की जरूरत नहीं कि कमलेश के भटकाव में बहुसंख्यक भारतीय युवकों का रोजगार की तलाश में भटकने, दुःखी और एक हद तक असफल रहने की जीवन-स्थितियों का ही चित्रण है। यह आजाद भारत की 'आयरनी' है कि यहां काम की तलाश ही सबसे बड़ा काम है। मानव-संसाधन विशेषकर युवा-शक्ति का यूं रोजगारविहीन रहना उन्हें दिग्भ्रमित करने के लिए एक बड़ा कारण है, जिसका अनुचित लाभ राजनीतिक पार्टियों सहित आतंकवादी और नक्सलवादी संगठन भी उठा रहे हैं।

अल्मोड़ा से नोएडा के लिए काम पर जाता कमलेश अपनी रोती हुई मां से विदा लेता हुआ यही सोचता है, 'इन औरतों के पास भी न जाने कितने आंसू होते हैं, जहां देखो, बहा देती हैं और दुनिया को रहने लायक बना देती हैं।' परदेश में अकेला बीमार पड़ा कमलेश अपनी मां को ही याद करता है। कहने की जरूरत नहीं कि प्रतिकूल से प्रतिकूल स्थितियों में भी अपने घर एवं बच्चों को बचा ले जाने की स्त्री की इस पारंपरिक और सशक्त छवि का यहां सफलतापूर्वक अंकन किया जा सकता है।

नैनीताल जैसे शहरों का जिक्र आने पर उपन्यासकार वहां स्थित अंग्रेजों की कब्र, उनके बनाए पुराने बंगलों, उनके ठाट-बाट एवं भोग-विलास के उन्मुक्त क्षणों की कहानियां, स्थानीय लोगों पर उनके अत्याचार के तरह-तरह के किस्से एवं उनकी खुली पश्चिमी जीवन-शैली को देख पानी-पानी होता स्थानीय लोक-समुदाय—इन सबका चित्रण करते हुए पहाड़ी-परिवेश को जीवंत और मौलिक रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश करता है। यहां शहर के वर्तमान को उसके अतीत में झांककर देखने एवं इतिहास और जनश्रुतियों का फ्यूजन बनाकर उसे प्रस्तुत करने का रचनात्मक कौशल है। उपेंद्रनाथ अश्क जहां अपने चरित्रों से देशी-विदेशी साहित्य पर गूढ़ चर्चा करवा दिया करते थे, वहीं दिनेश कर्नाटक अपने पात्रों से नैनीताल पर फिल्म बनाने के कई 'ग्रामर' सिखलाते यहां देखे जा सकते हैं। नोएडा के भीड़-भाड़ वाले मोहल्ले के एक तंग अभावग्रस्त मकान में रहते हुए कमलेश नैनीताल के खुले प्राकृतिक दृश्यों को याद करता है। अपनी वयःसंधि पर आकर वह न सिर्फ अपने शरीर में आए परिवर्तनों से प्रभावित/रोमांचित होता है व 'कंचन' के साथ अपने हल्के-फुल्के प्रेम-प्रसंगों में डूबता-उतराता भी है। अलग-अलग राहों पर चलते हुए उसे विनोद दा जैसे प्रौढ़मना, चेतना-संपन्न व्यक्ति भी मिलते हैं, जो मजदूर का जीवन जीते हुए अपने व्यक्तिगत संघर्ष से बाहर जाकर आम मजदूरों के समर्थन में अपनी लड़ाई लड़ता है तो दूसरी तरफ उसे खान जैसा ठेकेदार भी मिलता है, जो उसे काम दिलाने के बहाने उसके शरीर की टोह लेना चाहता है, जिसमें उसकी अप्राकृतिक यौन-विकृति सामने आती है। अंततः यह उपन्यास कमलेश की चंदा के साथ शादी होने, दो बेटियों का पिता होने एवं 'उत्तराखंड' राज्य की स्थापना की मांग (जिसका निर्माण सन् 2000 में हो चुका है) के साथ यह उपन्यास समाप्त हो जाता है, मगर ऐसे कई मूलभूत सवालों को उठाए छोड़ जाता है, जिनके उत्तर मिलने अभी शेष हैं। कह सकते हैं कि 'फिर वही सवाल' उपन्यास में दिनेश कर्नाटक ने आंकड़ों में फलती-फूलती 'इंडिया' के बरक्स कहीं पीछे छूटते बृहत्तर 'भारत' की उन मौलिक समस्याओं को उठाया है, जहां अभी उसकी रोजी-रोटी का ही उचित प्रबंध नहीं हो रहा है। किसी उम्मीद में वह एकजुट होता है, उसकी मांग भी पूरी होती है, मगर इसके बाद जो व्यवस्था बनकर आती है, वह भी पहले के ही तरीके से लूट-खसोट में शामिल हो जाती है।

कुमाऊंनी भाषा के छौंक में उपन्यास का खाड़ी परिवेश और उसका तत्जन्य चित्रण अपनी प्रामाणिकता में उभर पाया है। पाठकों को बांध पाने में उपन्यास सफल रहा है।

फिर वही सवाल/दिनेश कर्नाटक/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ` 200

प्रबंधक राजभाषा, स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर एंड जयपुर, अंचल कार्यालय, सी-54, सरोजिनी मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर-302005 मो. 09413996755

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशन

1. , , रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225/-
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200/-
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175/-
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325/-
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी/रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
9. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375/-
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400/-
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250/-
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने—एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125/-
15. **हिंदी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-

संवेदनशील आत्माओं की त्रासदी

रूपेश कुमार सिंह

समाज और राज्य की उत्पत्ति का सिद्धांत देने से पूर्व उसके औचित्य को सिद्ध करने के लिए हाब्स, लॉक और रूसो—तीनों पाश्चात्य विचारकों ने प्राकृतिक अवस्था और मनुष्य-स्वभाव के संबंध में विस्तार से विवेचन किया है। तीनों विचारक इस बात पर लगभग एक मत हैं कि मनुष्य की मूल प्रवृत्ति स्वार्थ और बर्बरता की होने के कारण वह लगातार एक-दूसरे को हानि पहुंचाता था, इससे बचने के लिए ही समाज और राज्य का निर्माण किया गया। निश्चय ही ऐसी व्यवस्था ने मनुष्य को काफी हद तक लाभ पहुंचाया। सभ्यता-विकास के विभिन्न चरणों का क्रमबद्ध ऐतिहासिक अध्ययन करने पर भी इस बात की पुष्टि होती है कि मनुष्य लगातार सभ्य और संवेदनशील हुआ है, लेकिन अपनी मूल प्रवृत्ति के कारण वह आदर्श समाज एवं राज्य का निर्माण आज तक नहीं कर पाया। प्लेटो ने इसके लिए संपत्ति और परिवार को बाधक मानते हुए अपने आदर्श राज्य में संपत्ति एवं स्त्री साम्यवाद को लागू किया, इसके बावजूद आदर्श राज्य का निर्माण एक यूटोपिया ही रहा। 'त्रासदी' उपन्यास में भी लेखक कुछ युवा पात्रों के माध्यम से समतामूलक समाज का सपना देखता है और उसका हल समाजवादी तरीके से खोजने की कोशिश करता है, लेकिन अंततः उसे निराशा हाथ लगती है। यद्यपि इसके बावजूद वह समाजवादी व्यवस्था को लोकतंत्र से बेहतर मानता है। उपन्यास का नायक धीरज कहता है—समाजवादी विचारधारा की मौलिक धारणाओं, मूल्यों और सिद्धांतों में कोई कमी नहीं, बिल्कुल मजबूत एवं चट्टान की तरह ठोस हैं। मेरा पक्का विश्वास है कि अगर संगठनात्मक पहलुओं में आवश्यक सुधार कर लिया जाए तो, यदि ऊपरी ढांचे में बदलाव लाया जाए तो समाजवाद फिर से एक शक्तिशाली एवं ठोस व्यवस्था बनकर उभरेगा। वर्तमान युग में समाजवाद का कोई और विकल्प नहीं। क्रूर, नृशंस, पूंजीवादी व्यवस्था को सहना और उसका समर्थन करना न तो न्यायोचित है और न ही तर्कसंगत।'' (331) देखा यह गया कि विभिन्न प्रकार के शासन तंत्रों की विकास यात्रा में उसे संचालित करने के लिए समाज को कुछ विशिष्ट लोगों पर विश्वास करना पड़ता है। ऐसे लोगों को जनमानस के हित के लिए कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, लेकिन कुछ समय के बाद अपनी मूल प्रवृत्ति के कारण इन विशेषाधिकारों का प्रयोग ये स्वहित में करने लगते हैं, जिससे वह व्यवस्था, जो लोकहित में बनाई गई है, लोगों के शोषण का कारण बन जाती है। समाजवाद की असफलता के पीछे भी यही रहस्य है, जिसका उद्घाटन उपन्यास में किया गया है।

उपन्यास में दलितों और स्त्रियों की समस्या को मुख्य रूप से उठाया गया है। गांव में इनके साथ हो रहे अन्याय एवं शोषण, इनके अंदर के आक्रोश तथा फैल रही सामाजिक-राजनीतिक चेतना को कृति में यथार्थ और मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है। उपन्यास का नायक धीरज युवा अवस्था में ही दलित और स्त्री विरोधी शक्तियों से टकराता है। कई बार प्रतिक्रियावादी शक्तियों द्वारा वह पिटता भी है, लेकिन हार नहीं मानता। इसमें उसके दोस्त और माता-पिता उसके साथ होते हैं, बाद में गांव के कई अन्य लोग भी उसके साथ जुड़ते हैं। उपन्यास में बाल-विवाह और प्रेम-विवाह की समस्या को भी प्रमुखता से उठाया गया है। बाल-विवाह का शिकार स्वयं धीरज है, प्रेम-विवाह की समाज में स्वीकारोक्ति नहीं है। प्रेम-विवाह करने वालों को मौत के घाट उतार दिया जाता है। लोगों के आपसी विवाद का निर्णय गांव की पंचायत में होता है। जब गांव की पंचायत बैठती है तो उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों की खाप पंचायतों की बरबस याद आ जाती है। गांव में एक समूह अन्याय के शिकार हुए बागियों का है, जो न्याय-अन्याय का फैसला अपनी बंदूक की नोक के बल पर करता है। यह समूह मुख्य धारा से लगभग कटा हुआ पहाड़ी जंगलों में गुप्त वास करता है और अपने प्रोग्राम मिनिमम के तहत जनता का खून चूसने वाले सूदखोरों और भ्रष्ट अफसरों को अपना निशाना बनाता है, लेकिन वे रेल

की पटरियां उखाड़कर दुर्घटनाएं या सार्वजनिक स्थान पर हमला इसलिए नहीं करते थे, क्योंकि इसकी चपेट में गरीब व आम आदमी आते हैं, ऐसे हमलों में प्रायः दलित, शोषित व असहाय लोग ही मरते हैं। (पृष्ठ 178) धीरज, उसके साथियों और गांव वालों को इस गैंग के साथ हमदर्दी है। त्रासदी के इस अंश को पढ़कर प्रारंभिक नक्सलबाड़ी आंदोलन की याद ताजा हो जाती है।

उपन्यास में आपातकाल व जे.पी. आंदोलन तथा रूस के विघटन के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टियों की स्थिति आदि अनेक सूत्रों से पता चलता है कि कथा का विस्तार सत्तर के दशक से लेकर अद्यतन है। इस दौरान विशेषरूप से हरियाणा की ग्रामीण स्थितियों के साथ ही गांव से शहर तक फैली समाज में विष बोती सांप्रदायिक शक्तियां, धर्म के नाम पर स्थापित मठों में हो रहे यौनाचार, भारतीय राजनीतिज्ञों के दोहरे चरित्र, पुलिसिया अत्याचार, पूंजीपतियों के हाथों की कठपुतली मीडिया आदि अनेक सामाजिक बुराइयों को रचना में विभिन्न चरित्रों और जीवन स्थितियों के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली है। रचनाकार ने इन बुराइयों के खिलाफ लड़ रही शक्तियों के स्वर को प्रमुखता से रखा है।

त्रासदी की कथा-भूमि मुख्य रूप से हरियाणा के कुरुक्षेत्र का ग्रामीण अंचल है, लेकिन जब नायक समाजवाद से प्रभावित होकर संगठन से जुड़ता है तो इसका विस्तार दिल्ली, शिमला के साथ उत्तर पश्चिम में दार्जिलिंग सहित रूस तक हो जाता है। जिन समस्याओं को कृति में उठाया गया है, वह क्षेत्र विशेष की समस्या होते हुए भी पूरे भारतीय समाज की समस्या है। शायद इसीलिए उपन्यास में आया गांव भारत देश का प्रतिनिधि गांव लगता है। नायक का ज्ञान जैसे-जैसे बढ़ता है, उसका संघर्ष भी विस्तार पाता है। एक ऐसी स्थिति आती है, जब उपन्यास का नायक धीरज भगत सिंह को पहला मार्क्सवादी क्रांतिकारी मानने वाले एक कम्युनिस्ट संगठन का होलटाइमर हो जाता है। इसके बाद उसके चिंतन में पूरे देश की समस्या होती है। वह पार्टी कमेटी को विश्वास में लेकर हरियाणा में सिकान आंदोलन चलाता है, जिसमें उसके प्रयासों की जीत होती है, लेकिन किसान संघर्ष के बाद पार्टी कमेटी की समीक्षा बैठक में, उस पर आरोप लगाया जाता है कि उसने सारा अभियान बुर्जुआ नेता की तरह चलाया। पार्टी सेक्रेटरी यह भी कहता है कि धीरज ने क्रांतिकारी अतिवाद और गांधी के सुधारवाद को मिलाने का दुस्साहस किया, जो अपने में वामपंथी बचकानेपन का लक्षण है। (227) धीरज को इससे बहुत आघात पहुंचता है। उसकी ऐसे मार्क्सवादियों से घोर असहमति है, जो कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो से आगे नहीं बढ़ना चाहते। इसी तरह पार्टी का एक अन्य सदस्य पृथ्वी, जो काफी समय तक रूस में रहकर आया है, समता के कहने पर कुरुक्षेत्र में आकर भगत सिंह मंच के सदस्यों को संबांधित कर सोवियत संघ के बारे में अपने अनुभव बताता है। इसके लिए उसके ऊपर पार्टी विरोधी गतिविधियां करने का आरोप लगाया जाता है, क्योंकि उसने ब्रांच सेक्रेटरी से इसके लिए अनुमति नहीं ली। अपने ऊपर लगाए गए आरोप का जब वह प्रतिकार करता है तो इसे अनुशासनहीनता माना जाता है, जबकि पृथ्वी इसे ब्यूरोक्रेटिक समझ और प्रणाली की उपज मानता है। उपन्यास में ऐसे अन्य अनेकों प्रसंग हैं, जिससे भारत में कार्य कर रही कम्युनिस्ट पार्टियों की आंतरिक विसंगतियों पर खुलकर बातचीत की गई है। धीरज और पृथ्वी जैसे लोग इस बात को लेकर दुखी हैं कि पार्टी में अवसरवादियों का बोलबाला हो गया है।

उपन्यास का एक अंश रूस से संबंधित है, जिसमें उसके विघटन के पहले की अर्थव्यवस्था और शासन का यथार्थपरक चित्रण है। कथा के इस भाग में सहनशीलता और जनवाद के कारण जहां विकास के लेनिन मॉडल की प्रशंसा है, वहीं स्तालिन की तानाशाही, कम्युनिस्ट पार्टी के शीर्ष नेताओं की हत्या तथा अवसरवादियों से गठजोड़ के कारण उसकी तीखी आलोचना है। वेरा कहती है—स्तालिन काल में क्रांतिकारिता समाप्त कर दी गई, इन्कलाबी जुनून का गला घोंट दिया गया, क्रांतिकारियों को सरकारी मशीन के पुर्जों में तब्दील कर दिया गया, उसका रोमांचवाद रौंद डाला गया। (248) इसका जवाब देते हुए धीरज कहता है, पर सवाल यह उठता है कि यदि मान भी लिया जाए कि स्तालिन एक राक्षस था, उसने क्रांति को प्रतिक्रांति में बदल दिया था, तो सोवियत संघ में इतनी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां कैसे हुईं, जिन्हें हम आज भी देख सकते हैं? आखिर दुनिया की दूसरी सुपर पावर है सोवियत संघ। उद्योग और मूलभूत वैज्ञानिक अनुसंधान में बहुत ही विकसित है यह देश। अंतरिक्ष अनुसंधान में अमेरिका को पछाड़ चुका है सोवियत संघ। देश में कोई बेरोजगारी नहीं, भारत जैसे देशों में मिलने वाली गरीबी नहीं, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएं सभी को निःशुल्क उपलब्ध हैं, रहने के लिए सभी के पास मकान हैं, किसी को भी अपने भविष्य के बारे में चिंतित होने की आवश्यकता नहीं। लोग पैसे के पीछे उन्मादी नहीं, आपकी तरह साफ-सुथरे हैं अधिकतर सोवियत नागरिक। हां, बहुत भयानक कमियां भी हैं, खामियों की भी कमी नहीं, पर मूलभूत मुद्दों यानी इन्सान द्वारा इन्सान के शोषण का खात्मा, भुखमरी से छुटकारा, सामाजिक भेदभाव व ऊंच-नीचे से मुक्ति आदि उपलब्धियां कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इसका अर्थ तो यह हुआ कि समाजवाद की विचारधारा मूलभूत रूप से सही है। (254) उपन्यास में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनसे लेखक की मार्क्सवाद में गहरी आस्था और उसमें आए अवसरवाद के कारण क्षोभ, दोनों का पता चलता है।

प्रोफेसर अभय मौर्य का युगनायिका (2006), मुक्तिपथ (2007) के बाद त्रासदी (2011) तीसरा उपन्यास है। भाषा पर उनकी अच्छी पकड़ है। उपन्यास के आरंभिक परिच्छेदों के बीच-बीच में हरियाणवी का प्रयोग उस क्षेत्र की खुशबू के साथ भाषा को ताजगी से भर देता है, लेकिन कथा विस्तृत होने के कारण उसका सूत्र थोड़ा कमजोर लगता है, कहीं-कहीं कृत्रिमता भी खटकती है, पर विभिन्न पात्रों के बीच तर्क-वितर्क तथा तथ्यात्मक संवाद के कारण रोचकता बनी रहती है।

त्रासदी/प्रो. अभय मौर्य/शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, मूल्य : ` 450

सहायक प्रोफेसर, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)-442001, मो. 09404549085

अश्वत्थामाओं के शहर में उम्मीद की तलाश

रमेश कुमार बर्णवाल

मैं ने ज्ञानप्रकाश विवेकजी की कहानियां पढ़ी हैं। उनमें से कुछ मुझे बेहद पसंद हैं, लेकिन उपन्यास की संरचना अलग होती है और उसकी मांग भी बहुत अलग। हिंदी-साहित्य का यह सौभाग्य रहा है कि बहुत-से हिंदी कथाकारों ने कहानी और उपन्यास दोनों ही विधाओं में उत्कृष्ट रचनाएं दी हैं। इसलिए हर कथाकार से एक अच्छे उपन्यास की अपेक्षा हो जाना स्वाभाविक है। ज्ञानप्रकाशजी के पहले ही चार उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं और 'चाय का दूसरा कप' उनका पांचवां उपन्यास है। मध्यवर्गीय जीवन पर वे पहले से ही लिखते रहे हैं और इस उपन्यास के पात्र भी मध्यवर्गीय जीवन से ही लिए गए हैं।

कथावस्तु एक वाक्य में बतानी हो तो वो ये है कि एक व्यक्ति का युवा बेटा गुम हो गया है, लेकिन ये तो सिर्फ एक घटना है, खबर की तरह जो हर रोज हमारे सामने आती है और हम भूल जाते हैं, पर ऐसी घटना एक जीवन को, एक प्रतिनिधि स्थिति को कैसे प्रस्तुत करती है और कैसे एक उपन्यास का रूप धारण कर लेती है, इसका उदाहरण है 'चाय का दूसरा कप'। इसमें ऐसी घटना से जुड़ी वे मानवीय सच्चाइयां हमारे सामने रखी गई हैं, जो खबर पढ़ते समय हमारी आंखों से ओझल रह जाती हैं। ये मानवीय सच्चाइयां बहुत सारी घटनाओं के घटाटोप से पैदा नहीं हुई हैं, बल्कि उन अनुभवों से पैदा हुई हैं, जो एक ऐसे पिता के अनुभव हैं, जिसका खुशमिजाज प्रतिभाशाली बेटा गुम हो गया है और उसका दुःख बांटने वाली पत्नी पहले ही उसे हमेशा के लिए छोड़कर अनंत को जा चुकी है। यह पिता है देवदत्त और उसका एक ही दोस्त है, उसका बेटा केतन। बारहवीं कक्षा का छात्र केतन एक दिन जो स्कूल गया तो फिर नहीं लौटा। इंतजार का एक-एक दिन गुजरता गया, लेकिन फिर भी देवदत्त ने उम्मीद का दामन नहीं छोड़ा।

'देवदत्त ने चाय के दो कप बनाए थे। एक अपने लिए और दूसरा चाय का कप केतन के लिए। केतन के लिए रखा चाय का कप सर्द होता रहा। जैसे चाय का कप न हो, दहलीज पर पड़ा बुझा हुआ इंतजार का चिराग हो।' (पृ. 25)

देवदत्त अपने बेटे केतन की तलाश और उसके वापस आने की उम्मीद में बिल्कुल अकेले हैं। पूरा उपन्यास देवदत्त के अकेलेपन और खालीपन के अनुभवों से भरा है, या यूं कहें कि उपन्यास में अकेलेपन और खालीपन का वैभव है। और इस अकेलेपन को लेखक ने शहरी मध्यवर्ग की ट्रेजडी की तरह दिखाया है, जहां सुख में भले सभी पार्टी मनाते देखे जाते हों, लेकिन दुःख में सभी अकेले हैं। अपने परिवार से बाहर कोई हमसाया नहीं।

देवदत्त जगमगाते व्यापारिक शहर नोएडा

में एम.आई.जी. फ्लैट के बाशिंदे हैं, जहां रेजिडेंट वेलफेयर एसोसिएशन के त्यागीजी से वे कहना चाहते थे कि पुलिस स्टेशन वो उनके साथ चलें, लेकिन नहीं कह पाए, क्योंकि उन्होंने 'पुलिस स्टेशन में गुमशुदगी की रिपोर्ट दर्ज कराने की सलाह दी। फिर फोन काट दिया।' इस शहर में 'हर शख्स अपनी निजता के खोल में दुबका हुआ है। आत्ममुगधता के कांचघर में, अपने-आप पर अभिभूत होता हर शख्स।' और एक जगह 'कई बार यह शहर अश्वत्थामाओं का शहर लगता है। जख्मों की वर्दियां पहने हुए, हर शख्स किसी अश्वत्थामा जैसा। देवदत्त उनमें से एक।'

देवदत्त एक उदार, संवेदनशील, अपने पेशे में ईमानदार और विचारवान व्यक्ति हैं। पहले पत्नी की असमय ब्रेन हेमरेज से मौत ने उन्हें अकेला किया। फिर बेटे की गुमशुदगी ने उन्हें निपट अकेला कर दिया। देवदत्त की दुनिया बड़ी नहीं है। फ्लैट ओर ऑफिस के अलावा रिश्ते-नाते, दोस्त-यार का उपन्यास में कोई प्रसंग नहीं है। देवदत्त एक संवेदनशील व्यक्ति हैं, इतने कि एक विधवा युवती को पसंद कर उसे अपनी पत्नी बनाया था, लेकिन उनका सामाजिक दायरा बहुत सीमित है। शायद अपनी जड़ों से कट गए पूरे शहरी मध्यवर्गीय नौकरीपेशा वर्ग की यही हकीकत है। देवदत्त की दुनिया भी बहुत छोटी है, खासकर पत्नी कल्याणी के देहांत के बाद। ऑफिस से घर, घर से ऑफिस। बीच में बाजार, बस का इंतजार और बस में सफर, लेकिन देवदत्त इन सबसे निर्लिप्त हैं। ऑफिस में भी अपने विशिष्ट स्वभाव के कारण वे और दुनियादार सहकर्मियों से अलग दिखाए गए हैं। अपने विशिष्ट चिंतनशील स्वभाव के कारण ही वे कभी-कभी अपने फ्लैट को रिपेयर कराते भी हैं तो मन मारकर। 'कहां पढ़ने में

रुचि रखने वाले देवदत्त और कहां मजदूर, मिस्त्री, सीमेंट, सरिया, रोड़ी... ।' (पृ. 45) निश्चय ही सामाजिकता के दायरे में ये चीजें विरोधी नहीं हैं, बल्कि व्यक्तित्व का विस्तार ही करती हैं और दूसरे सामाजिक वर्गों से जुड़ने का अवसर भी देती हैं, लेकिन लेखक द्वारा सृजित देवदत्त की सामाजिकता का सीमित दायरा उनकी अकेलेपन की ट्रेजडी में इजाफा ही करता है, लेकिन पत्नी की मौत के बाद अकेली संतान के गुम हो जाने के आघात को देखें तो एक वयक्ति को तोड़ने के लिए ये कम नहीं है। और इसीलिए इसके बाद का देवदत्त का अकेलापन विश्वसनीय लगता है और पाठक के मर्म को छूता है। 'अकेले आदमी की यही तो दिक्कत होती है। उसे समझ नहीं आता कि खाली वक्त का क्या करे? यही दिक्कत देवदत्त की है।' (पृ. 140)

लेखक की ये पंक्तियां आलोचक की पंक्तियां होने का आभास देती हैं। ऐसी कुछ जगहों पर लेखक स्वयं व्याख्याकार की भूमिका में आ गया है। बहरहाल। इससे देवदत्त के अकेलेपन की विश्वसनीयता कम नहीं होती। देवदत्त 'अपने खालीपन से भाग निकलने की कोशिश में सड़कों पर भटकते रहते हैं। बहुत मसरूफ नज़र आने वाले देवदत्त शहर के सबसे खाली इन्सान होते हैं। वो अपने साथ फरेब रचते हैं और पकड़े जाते हैं। वो अपने साथ खेलते हैं और हार जाते हैं। वो अकसर अपनी चुप के साथ जीते हैं।' (पृ. 140) हर चीज पर इंतजार और अकेलापन हावी है। 'पीतल का पुराना लैंप है और उसकी गंध है। गंध अकेलेपन की भी है, जिसे दुःख के पैर लगाकर चलने की आदत हो गई है।' (पृ. 123) चुप-उदास देवदत्त सोचते हैं—काश, वो दरख्त होते। अकेला दरख्त, जिसमें परिंदों के बेशुमार घर होते। वो अकेले बहते दरिया होते। कश्तियों में यात्राओं के उत्सव पैदा करते। अगर वो अकेले आसमान होते तो क्षितिज पर जाकर पृथ्वी को चूमने लगते। एक मद्धम-सी आवाज़। उस आवाज़ को पृथ्वी सुनती या फिर वो।'

एक लगभग घटनाहीन और कथाहीन उपन्यास को लेखक ने देवदत्त की सोच की इन्हीं उड़ानों और भाषा के ऐसे ही कौशल से भरा है। उपरोक्त उद्धरण ही देखें तो इसमें अकेले रहते हुए ही बहुत कुछ करने की कामना व्यक्त की गई है। एक मद्धम-सी आवाज भी पृथ्वी सुनती या फिर आसमान—यह कल्पना समाजहीनता की कल्पना से उपजी है, क्योंकि आसमान भले ही निर्जन होता है, लेकिन पृथ्वी नहीं। यहां एक रोमांटिक कल्पना यथार्थ के दायरे से अपने-आप को बाहर कर लेती है। दरअसल ऐसी पंक्तियों की बिंबात्मकता पूरे उपन्यास में पाठक को चमत्कृत करती है और वह उपन्यास की खूबसूरत भाषा की दाद देता है, लेकिन ऐसी पंक्तियों की परतें अलग-अलग करने पर कविता और कथा के बीच की फांक दिखाई देने लगती है और कई बार कथा पर काव्यत्व हावी होने लगता है। और यह भी संदेह होता है कि यह काव्यत्व पात्र की मनःस्थिति और स्वभाव से ही पैदा हुआ है या लेखक भाषा से यह करतब करा रहा है।

पूरे उपन्यास में रूपक और उपमानों की झड़ी लगी है। देवदत्त और एस.एच.ओ. कविता में बात करते हैं। केतन के स्कूल की प्रिंसिपल भी कविता में बात करती है। देवदत्त को सड़क पर मिला अजनबी, जो जीवन के बारे में देवदत्त का नजरिया बदल देता है, वह भी कविता में बात करता है, जिसमें दार्शनिकता का अंदाज है। दार्शनिकता का अंदाज पूरे उपन्यास में ही है, जिसका उपन्यास को फायदा मिला है तो कहीं-कहीं नुकसान भी हुआ है। जैसे देवदत्त कहता है, 'जैसे कोई अकेला दरख्त उड़कर चले गए पक्षियों का इंतजार कर रहा हो।' तो देवदत्त के घर हमदर्दी जताने और हौसला देने आया एस.एच.ओ. रणजीत सिंह भी कहता है—या फिर कोई सूखी हुई नदी अपनी प्यास की बेचैन चादर फैलाकर बादलों को अर्जियां लिख रही हो। (पृ. 126)

गुम हुए केतन के स्कूल की चारदीवारी के पास अकेले खड़े देवदत्त को जब प्रिंसिपल अंदर ऑफिस ले जाती है, तो भी संवादों में कविता आ जाती है, जिन पर एक बार तो लेखक का नियंत्रण एकदम साफ दिख जाता है, जब थोड़ी देर के लिए प्रिंसिपल अपने ऑफिस से कहीं जाती हैं और देवदत्त खिड़की से स्कूल का विशाल प्रांगण, प्लेग्राउंड, क्यारियां आदि देखते हैं, लेकिन प्रिंसिपल वापस आकर जब कॉफी देकर उनसे पूछती हैं, 'बाहर क्या देख रहे थे आप?' तो देवदत्त का जवाब है, 'मैं आसमान में उड़ते हुए परिंदे को देख रहा था।' यहीं यह सवाल उठता है कि देवदत्त पर इतनी दार्शनिकता आरोपित करने की आखिर क्या आवश्यकता थी? लेखक की संवाद गढ़ने की कोशिश यहां बहुत यांत्रिक ढंग से सामने आ गई है। हालांकि लेखक की यह कोशिश प्रिंसिपल के व्यक्तित्व की उदात्तता और चिंतनशीलता को सामने लाने के प्रयोजन से भी हुई है, क्योंकि अगर देवदत्त का उपरोक्त संवाद न होता तो प्रिंसिपल का यह गंभीर संवाद भी कैसे बनता, 'परिंदों की सबसे बड़ी विडंबना पता है क्या? तो आसमान में पंख फैलाते हैं। थोड़ा-सा आसमान अपने अंदर समेट भी लेते हैं, लेकिन वो आसमान की व्याख्या नहीं कर सकते।' (पृ. 138) लेखक अपने प्रयोजन में सफल है। यह भाषा मुग्ध भी करती है, लेकिन संवाद जोड़ने और गढ़ने के लेखकीय प्रयत्न को पाठक इतनी आसानी से पकड़ ले, तो ये रचना को उत्कर्ष से एक सीढ़ी नीचे ले आता है। और फिर देवदत्त के जिस सीमित सामाजिक दायरे की बात पहले की गई है, उसके एक प्रमाण के तौर पर देवदत्त और केतन के एक संवाद को देखें, जब केतन से देवदत्त कहते हैं कि तुम्हें एम. बी.ए. करना है, शायर नहीं बनना। तो एक मामूली आदमी ही हमारे सामने आता है। और जब केतन समाज में व्याप्त विषमता पर चिंता व्यक्त करता है तो देवदत्त उसकी चिंता में शरीक होने और उसे प्रेरित करने के बजाय हुक्म देते हैं, 'माइंड योर स्टडी'। बेटे को करियरवाद की ओर प्रेरित करने वाला पिता निश्चय ही हममें कुछ जोड़ नहीं पाता।

इस तरह उपन्यास का केंद्रीय चरित्र निजता के दायरे में जीता और निजता के एक दूसरे दायरे के निर्माण में सहायक होता दिखाई देता है। यही कारण है कि लेखक शहरियों के निजता के खोल में दुबके रहने संबंधी टिप्पणी उपन्यास में देवदत्त के पक्ष में कोई बड़ा तर्क या असर पैदा नहीं कर पाती। अगर लेखक ने देवदत्त को ही मध्यवर्गीय अकेलेपन की त्रासदी का उदाहरण बनाना चाहा है, तो इस दृष्टि से देवदत्त के चरित्र को पूरी सफलता मिली है, क्योंकि वह डरे हुए अकेले मध्यवर्गीय व्यक्ति के रूप में ही सामने आया है, लेकिन उपन्यास के अंतिम दस पृष्ठों में एक अनोखे अजनबी से मुलाकात के बाद देवदत्त के व्यक्तित्व का जो रूपांतरण होता है और जीवन के प्रति

उसके सीमित नजरिये में जो बदलाव आता है, वह देवदत्त के चरित्र को एक ऊंचाई प्रदान करता है। देवदत्त केतन के सभी सहपाठियों को अपने घर पर आमंत्रित करते हैं, और उन्हीं में अपने केतन को ढूंढ़ते हैं। उपन्यास का यह अंत सुखद और सकारात्मक तो है ही, कथांकन को उचित उत्कर्ष तक भी पहुंचाता है और कथानक की यह परिणति बनावटी या किसी फारमूले का शिकार होने से भी बच गई है। साथ ही किसी हद तक लेखकीय दृष्टि भी व्यक्त हुई है, यानी कुछ खोने का अनुभव अंततः कुछ पाने का अनुभव बन जाता है।

उपन्यास की उपलब्धि की बात करें तो यह एक अलग विषय पर लिखा जाना तो है ही, साथ ही है इसकी पठनीयता, जो 164 पृष्ठों के इस छोटे उपन्यास को पढ़ते समय पाठक को कहीं भटकने नहीं देती। उपन्यास के अंतिम दृश्य सहित कुछ दृश्य (प्रसंग के बजाय इन्हें दृश्य कहना ही ज्यादा उचित लगता है।) वास्तव में प्रभावशाली बने हैं, जिन्हें लेखक ने फिल्म के दृश्यों की तरह रचा है और अपनी टिप्पणी के सहारे उन्हें 'फ्रीज' करके पाठकों को अनुभूत कराया है। इसके अलावा जो काव्यात्मक भाषा उपन्यास के कथात्मक ढांचे में कहीं-कहीं बाधा के रूप में उजागर हुई है, वही इस उपन्यास की एक बड़ी खूबी के रूप में भी सामने आई है। तलाश की हथेली पर इंतजार का दीया, मौसम के इंतजार में दरख्त, खामोशी अंधी फकीरनी है, इनकी फटी जेबों से आज फिर दिन का सिक्का गिर पड़ेगा, जैसी अभिव्यक्तियां लेखक की कल्पनाशीलता, सर्जनात्मकता और भाषिक क्षमता की ओर बार-बार हमारा ध्यान दिलाती हैं।

उपन्यास में हाफ, बार, एंड, एंटर, एज, स्टाफ जैसे अंग्रेजी के कुछ शब्दों के साथ अत्याचार हुआ है और उन्हें न जाने क्यों हॉफ, बॉर, ऐंड, एंअर, ऐज और स्टीफ लिखा गया है। प्रविष्ट और बुत की जगह भी प्रविष्ठ और बुत्त शब्दों की आवृत्ति हुई है। इन शब्दों के साथ न्याय होता तो अच्छा ही होता।

चाय का दूसरा कप/ज्ञानप्रकाश विवेक/हार्पर कॉलिंस पब्लिशर्स इंडिया, ए-53, से. 57, नोएडा-201301/ मूल्य : ` 150

बी-5/385, यमुना विहार, दिल्ली-110053, मो. 9990689254

तकनीकी आध्यात्मिक-सी कहानियां

सरिता शर्मा

कुछ साल पहले आई फिल्म 'कॉर्पोरेट' कॉर्पोरेट जगत के दिग्गजों की कहानी है, जो पैसे और सफलता के लिए नैतिक मूल्यों की बलि दे देते हैं। उदारीकरण के बाद जब सरकार अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों के लिए दरवाजे खोल देती है तो बिजनेस समूहों में एक-दूसरे से आगे निकलने की होड़ लग जाती है और वे कर्मचारियों का इस्तेमाल मोहरे की तरह करते हैं। गीत चतुर्वेदी के कहानी संग्रह 'पिंक स्लिप डैडी' में भी दर्शाया गया है कि कॉर्पोरेट अपने दुष्प्रभाव से व्यक्ति के जीवन को मूल्यविहीन कर रहा है और 'कस्टमर इज दि किंग' एक बहुत बड़ा छलावा है। कई अन्य लेखकों ने भी कॉर्पोरेट दुनिया पर लिखा है, जैसे अलका सरावगी, नीलाक्षी सिंह, राकेश बिहारी, राजेश जैन, नरेंद्र नागदेव, जितेंद्र भाटिया, तेजेंद्र शर्मा, प्रत्यक्षा, मनीषा कुलश्रेष्ठ और नीला प्रसाद।

अछूते विषयों पर लिखना जोखिमपूर्ण होता है, क्योंकि पाठकों तक बहुत सधे हुए तरीके से पहुंचा जाता है। प्रयोगात्मक लेखन के नाम पर तकनीकी बिंबों का उबाऊ इस्तेमाल और भाषणबाजी से यथासंभव बचा जाना चाहिए। लेखक का उद्देश्य अंततः आधुनिकता बोध के साथ पाठकों के हृदय में उतरना होता है। लेखक अपनी मायावी दुनिया में अकसर इतना खो जाता है और आगे बढ़ता जाता है कि उसे आभास ही नहीं होता कि पाठक की अंगुली कब उसके हाथ से छूट गई। कॉर्पोरेट जगत पर इंटरनेट पर अनेक लघु कथाएं उपलब्ध हैं, जिनमें एक इस प्रकार है—

एक कौवे को पेड़ पर बैठा देख खरगोश ने पूछा, 'क्या मैं भी तुम्हारी तरह खाली बैठकर आराम कर लूं?' कौवा बोला, 'क्यों नहीं, बैठ जाओ।'

खरगोश भी पेड़ के नीचे बैठ गया। अचानक एक लोमड़ी आई और झपट्टा मारकर खरगोश को खा गई।

कहानी की सीख है 'अगर आप हाथ पर हाथ धरे बैठना चाहते हैं तो आपको बहुत ऊंचाई पर बैठना होगा।'

यह बोध कथा बिना क्लिष्ट बिंबों के उपयोग के काम की बात बता देती है। आम जनता समाज में आने वाले बदलावों को जीवन में मुहावरे के रूप में ढाल लेती है। हाल ही में हुए अन्ना के आंदोलन में ही रातोंरात अनेक नए शब्दों का जन्म हो गया, मगर जब साहित्य की बात आती है तो इक्का-दुक्का लेखकों के अतिरिक्त निराशा ही हाथ लगती हैं या तो नए विषयों पर लिखा ही कम जाता है या जो लिखा गया है, उसमें आधे से अधिक अपठनीय होता है।

कथाकार राजेश जैन के कहानी-संग्रह 'द कांक्रीट बुद्धा' (कॉर्पोरेट संस्कृति पर आधारित कहानियां) की पंद्रह कहानियां 'ट्रेक्नो स्पिरिच्युएल' श्रेणी की हैं, जिनमें साहित्य को

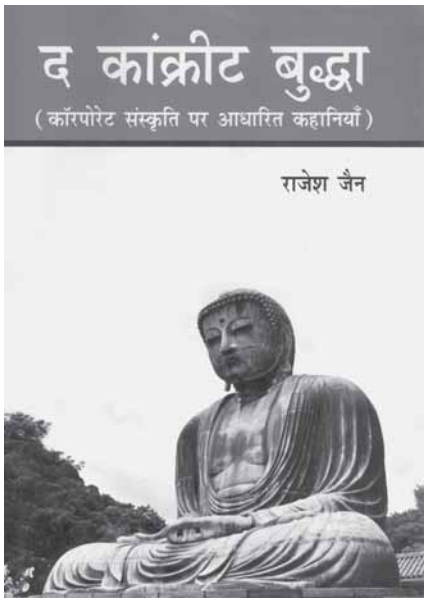

विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी से जोड़कर नई भाषा और अलग दृष्टिकोण को पाठकों के समक्ष लाया गया है। इनमें लेखक के इंजीनियर होने के नाते किए गए प्रयासों और अनुभवों को आध्यात्मिक दृष्टि से समेटा गया है। उद्योग से जुड़े प्रसंगों में मानवीय संवेदना और कोमलता को महत्त्व दिया गया है। लेखक का मानना है, 'लेखक सॉफ्टवेयर इंजीनियर की तरह होता है, जो मन की अतल गहराइयों में छिपी भावनाओं और संवेदनाओं की प्रोग्रामिंग करता है। दरअसल साहित्य तो प्रौद्योगिकी से भी बहुत आगे की चीज है, लेकिन वह केवल एक जड़ आईना न बनकर रह जाए, बल्कि समाज का बौद्धिक दर्पण बने, इसके लिए उसे समय के साथ चलना होगा।' भाषा के स्तर पर क्रांति लाने के बारे में वह कहते हैं, 'साहित्य में जब राजनीति घुस सकती है तो तकनीकी बिंब क्यों पीछे रहें?'

'द कांक्रीट बुद्धा' को प्रतिनिधि कहानी कह सकते हैं, क्योंकि 'हंस' में छपी यह किंचित लंबी कहानी अन्य सभी कहानियों से अधिक प्रभावशाली और यादगार है। ब्रेंडर मैथ्यूज ने कहा है, 'कहानी चरित्रों से लिखी जाती हैं, मगर वातावरण से बनाई जाती हैं।' इस कहानी में प्रौढ़ पति-पत्नी के बीच तनाव और पत्नी का पति से पूर्णतः विमुख हो जाना ऐसा है, 'मीरा के तेवर सहसा बदल जाते, और वह पार्क में खिले उस फूल की तरह हो जाती, जिसे छूना मना है। उसका सारा माधुर्य जैसे शोकेस की साउंड प्रूफ दीवारों को ओढ़ लेता, उनकी पहुंच से बाहर।' ऐसे में थाइलैंड छुट्टी मनाने अकेले जाना भूखे के सामने स्वादिष्ट व्यंजन परोसे जाने जैसा है। वहां की उन्मुक्त आबोहवा से ताजगी महसूस करते हुए नवीन मेहता खुद को चंचल युवा समझने लगता है और मसाज पार्लर चला जाता है। मसाजर पिन बातचीत करते हुए मसाज करती जाती है तो 'उन्हें महसूस हो रहा था, मानो स्पर्श की छैनी से उनके शरीर और मन पर जमी कांक्रीट की कड़ी पर्तें उधड़ती जा रही हैं' ठीक उसी तरह जैसे बुद्ध की सोने की मूर्ति को कभी कंक्रीट से ढंक दिया गया था, जो बाद में उधड़ गई तो असली सोने की मूर्ति प्रकट हुई थी।

'क्रैश' भी दांपत्य जीवन में मन-मुटाव की कहानी है, जिसमें पति पत्नी से उपेक्षित होने पर बेटी में ही भावनात्मक संबल ढूंढ़ता है। कहानी का अंत नाटकीय हो जाता है, जब बेटी कहती है 'वाह पापा, आप मर जाएं तो कितना मजा आ जाए—हमें लाखों रुपये मिल जाएंगे।' यही अस्वाभाविकता 'स्पेयर पार्ट्स' में भी देखने को मिलती है। किडनी फेलियर का मरीज बिजनेसमैन योगराज मलिक हवाई यात्रा के दौरान सहयात्री युवक से बात करता है तो पता चलता है कि वह किडनी ट्रांसप्लांट कराने जा रहा है। धीरे-धीरे उसका लंपटता भरा जीवन खुलता जाता है। उसके द्वारा सुनाए गए मसालेदार किस्सों और कहानी के अंत में युवक पर ही मोहित होने को पढ़कर। लेखक द्वारा स्थिति समझे बिना कहानी लिख देने पर कोफ्त होती है। लगभग मरणासन्न मरीज पहली बात तो अकेले कहीं जाएगा नहीं, जाएगा भी तो उसे चलने-फिरने तक में बहुत तकलीफ होगी। उसे नकारात्मक दिखाने के लिए चटपटे प्रसंग गढ़ना भावशून्य होना है।

कुछ कहानियों में समाज की विद्रूपताओं पर प्रहार किया गया है। इनमें आधुनिक महानगरीय त्रासदी और मूल्यों के ह्रास को सशक्त ढंग से उजागर किया गया है। 'कार्डमैन' में एक निर्दोष व्यक्ति अग्रिम जमानत लेना चाहता है, क्योंकि उसे झूठे मुकदमों में फंसाए जाने का भय सता रहा है। एम.ओ.यू. में बच्चे ट्यूशन पढ़ने और पढ़ाने के लिए करार करते हैं, जो अंत में निभाया नहीं जाता है। उन्हें सबक सिखाने के लिए पत्नी भी घरेलू कामकाज के बदले वेतन दिए जाने की मांग करती है। 'अनेकांत' में बूढ़े पिता का हार्ट का ऑपरेशन करवाने की बजाय बेटी को पढ़ने के लिए अमरीका भेजना अधिक जरूरी लगता है, क्योंकि टेक्नो-इकोनोमिक फीजिबिलिटी के सिद्धांत के चलते 'इतनी पुरानी इकाइयों पर निवेश का औचित्य नहीं है।' 'छने अनछने' भी अपने कथ्य और शिल्प से चमत्कृत करती है। कैमिकल इंजीनियर संजय कासलीवाल का कीटाणुओं को समाप्त करने का रिइसाक्लिंग प्लांट है। फिल्टर शब्द को प्रतीकात्मक रूप में इस्तेमाल किया गया है 'लोगों की सोच को इस तरह छान दिया गया कि फिल्टर के इस पार वही शुद्ध अंश आया, जिसे सफलता कहते हैं। सर्वत्र सिस्टम में भी ऐसे न दिखाई देने वाले छन्ने लगे हैं, जो लोगों को ही छान देते हैं।'

औद्योगिक और तकनीकी माहौल में मानवीय संवेदनाओं को जिंदा रखने का प्रयास भी कुछ कहानियों में झलकता है। 'क्यू में खड़ी उदासी' में समय प्रबंधन वर्कशॉप में भाग लेने गए संदीप मेहता को 'अर्जेंट' और 'इंपोर्टेंट' के बीच अंतर करने की सीख मिलती है। ऑफिस के अत्यावश्यक कार्यों को निपटाने की व्यस्तता में वह बीवी-बच्चों के लिए समय नहीं निकाल पाता है और एक्सीडेंट में घायल बेटे को देखने अस्पताल भी नहीं जा पाता है। संदीप को लगता है कि उसे उदास होने की भी फुर्सत नहीं है। 'हिस्सेदारी' में गरीबों की जमीन लेने के बदले उन्हें मुआवजा देने पर जोर दिया गया है। भावुक मन वाले इंजीनियर पालीवाल को लगा 'झोंपड़े और सभी मजदूर एकाएक पेड़ों के बदल गए और कहने लगे—क्यों उखाड़ते हो हमें...हमारी जड़ें वर्षों से इस मिट्टी में धंसी हैं...क्या दूसरी मिट्टी हमारी जड़ों को स्वीकार करेगी...इन पौधों जैसे बच्चों का क्या होगा...कहीं बेचारे सूख न जाएं...तुम तो लगाओ इस्पात के पौधे और उगाओ कारखानों के जिन्न...।' वह दरिद्र बच्चों का हुलिया देखकर पिघल जाता है और उनमें नोटों की गड्डी बांट देता है।

इस कहानी संकलन की दो कहानियां 'समवशरण' और 'निद्राखोर' 'एंटी कॉर्पोरेट' हैं, क्योंकि इनमें वैज्ञानिक और तकनीकी विकास को उस हद तक ही मान्यता दी गई है, जहां तक वे मानव-जीवन और संवेदनाओं का अतिक्रमण नहीं करते हों। इनमें जैन दर्शन के सम्यक ज्ञान पर भी जोर दिया गया है। 'समवशरण' में सुनामी के बाद चेन्नई में उद्योगपति शाह द्वारा 'बॉडी ऑर्गन कारपोरेशन' चलाया जाता है। उसके शरीर में 'स्टैंड बाई' अंग लगे हुए हैं और अंगों की बिक्री के लिए लोगों को फसल की तरह तैयार किया जाता है, मगर उसके बेटे नकुल का रुझान आध्यात्मिकता की ओर है और वह भगवान महावीर की तरह ध्यान में चला जाता है। संतुलन को बिगड़ने से बचाने के लिए लेखक कल्पनाशक्ति से पाठक को विशुद्ध व्यावसायिक दृष्टिकोण से आध्यात्मिकता की ओर ले जाता है। 'निद्राखोर' में भी प्रोडक्ट और कारोबार के रिश्ते में फंसे व्यक्ति की कशमकश को दर्शाया गया है। इसमें चेयरपर्सन विवेक भाटी निद्रा का सौदा करता है, मगर अपने पिता को योग

निद्रा में देखकर वह सोचता है 'मेरा प्रोडक्ट मेरे कारोबार के लिए है, खुद के लिए नहीं।'

जो कहानियां महिला पात्रों वाली हैं, उनमें एक जैसे पात्रों की विद्यमानता खटकती है। अधिकांश लेखक महिला के जीवन के विभिन्न पक्षों और पुरुषों के साथ उनके रिश्तों को लेकर दिलचस्प कहानियां लिखते हैं। संकलन में पत्नी अधिकांशतः अमीर, घरेलू, चिड़चिड़ी और उसकी सामाजिक हैसियत बढ़ाने वाले पति की अनदेखी करने वाली है और पर-स्त्री भोग्या या भोग्या बनने को तत्पर दर्शाई गई है, जो पढ़ी-लिखी और नौकरीपेशा भी है। इस तरह के 'स्टॉक' स्त्री पात्र आज के विमर्श और चेतना के युग में बहुत घिसे-पिटे प्रतीत होते हैं। 'इस्तेमाल' कहानी में पति के बिजनेस को आगे बढ़ाने के लिए खुद को परोसने वाली नीता तर्क देती है 'कौन किसका इस्तेमाल नहीं कर रहा है? इस्तेमाल तो कोई ऊपर वाला हम सबका कर रहा है। तुम खुद करो या नहीं, पर दूसरे द्वारा इस्तेमाल किए जाते रहोगे।' नायक उससे प्रभावित होकर अपनी पत्नी को भी इसी तरह इस्तेमाल करने के बारे में सोचने लगता है। यह कहानी अंत में लचर हो जाती है, क्योंकि विरोध करने वाला अंततः कुव्यवस्था में शामिल हो जाता है। 'लेडी लॉलीपॉप' भी सर्वे कराने वाली शीना की कहानी है, जो इंजीनियर को सर्वे कराते समय अपना अतीत बताती है और मीठी-मीठी बातों से लुभाती है।

अपने समय से आगे की कल्पना करने वाली ये सभी कहानियां तकनीकी वैज्ञानिक बिंबों की होने के बावजूद सहज और पठनीय हैं। मानवीय संबंधों में यांत्रिकता की भर्त्सना की गई है और भौतिक जीवन की तुलना में आत्मिक गुणों के विकास पर अधिक जोर दिया गया है। कतिपय पात्रगत और स्थितिगत विसंगतियों के बावजूद यह कहानी संकलन कथ्य और शिल्प की दृष्टि से अनूठा है।

'द कांक्रीट बुद्धा' (कॉर्पोरेट संस्कृति पर आधारित कहानियां)/राजेश जैन/कल्पना प्रकाशन, 4801/24, भरतराम रोड, दिल्ली-110002 मूल्य : ` 295

1975, सेक्टर-4, अर्बन एस्टेट, गुड़गांव, मो. 9871948430

बड़ी अपेक्षाओं वाली शुरुआत

मधुरेश

नीला प्रसाद की कहानियों में एक नौकरी-पेशा, पुरुषों के सघन संपर्क में आनेवाली स्त्री बार-बार आती है। प्रायः वह रांची जैसे छोटे शहर की लड़की है, जो अपने साथ निकट से देखी गई झारखंडी आदिवासी स्त्रियों को भी लाती है। यह युवती दफ्तरों की पुरुष-संस्कृति से जब-तब टकराती भी है, उनसे मेल-जोल, संपर्क-सहयोग के संबंध भी विकसित करती है—उनकी बातचीत, बोलचाल और वास्तविक मुहावरे का उपयोग करते हुए। अपनी स्वतंत्र, स्वायत्त सत्ता के बावजूद यह स्त्री घर-परिवार से जुड़ी है। प्रायः ही उसके बच्चे और पति भी है। नौकरी के लिए घर से बाहर होने पर वह अपनी जड़ों से जुड़ी है—घर और माता-पिता की सघन आत्मीय स्मृतियों के रूप में। यह प्रेम करती है और उसके लिए बहुत-कुछ दांव पर लगाने को भी तैयार रहती है, लेकिन किसी भी रूप में वह खिलंदड़ी और देह को सीढ़ी मानकर उठने वाली स्त्री नहीं है, लेकिन देह के प्रति किसी स्तर पर वह उदासीन भी नहीं है। आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने और बनी रहने के लिए वह नौकरी करती है और कभी जरूरत पड़ने पर प्रेमी-पति और नौकरी के बीच चुनाव की स्थिति में वह नौकरी को ही चुनती है। इसी दृष्टि से वह अपनी किशोर होती बच्चियों को भी तैयार करती है। प्रेम उसके लिए पूरी तरह से बराबरी का मामला है—गैर शादी-शुदा मर्द से कुंवारी लड़की का प्रेम। बोल्डनेस के नाम पर कैसी भी उच्छृंखलता और नंगई उसकी प्रकृति नहीं है और प्रेमी को भी किसी सार्वजनिक स्थल पर कैसी ही छूट से वह रोकती और बरजती है, यानी कुल मिलाकर नीला प्रसाद की यह स्त्री, सारे शोर-शराबे और हो- हल्ले के बीच, सार्थक स्त्री-विमर्श का एक रोल मॉडल बन सकने की संभावनाओं के साथ इन कहानियों में मौजूद है।

संग्रह की शीर्षक कहानी 'दूसरी...तीसरी और सातवीं औरत का घर!!' में निशि एक ऐसी ही युवती है। जिस अभिजीत से उसने विवाह किया है, उसका तर्क है, 'तुम मुझे मेरे अतीत से अलग कैसे कर सकती हो?' तुम अगर मेरे अतीत को नहीं स्वीकार पाओगी, नहीं अपनाओगी तो मुझे प्यार कैसे कर पाओगी?' (सातवीं औरत का घर, पृ. 12) कमरे की सफाई करते हुए निशि ने पति की पुरानी डायरियां और पत्र झाड़-पोंछकर अलमारी के ऊपर के खाने के बजाय नीचे के खाने में ही तो रख दिए हैं। इसके लिए वह उसके गुस्से को नहीं समझ पाती। अभिजीत की शर्त थी कि शादी के बाद उनमें से किसी का

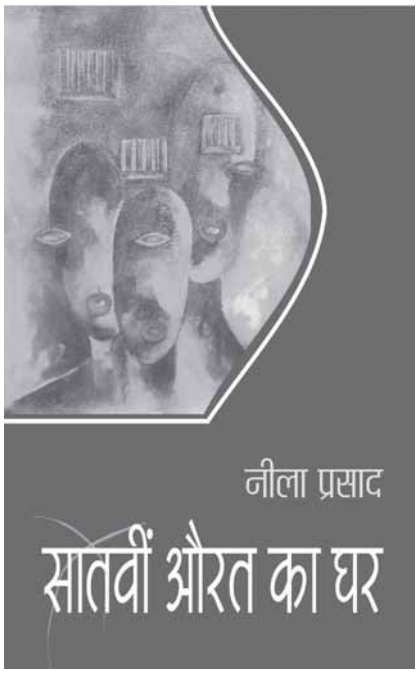

अतीत न उनके वर्तमान में शामिल होगा, न ही घसीटा जाएगा, लेकिन अभिजीत और निशिता के लिए अतीत का अर्थ खासा भिन्न है। अभिजीत के जीवन में एक नहीं, सात लड़कियां हैं। विवाह के बाद भी वह उनसे राह-रस्म बनाए हुए है। उन्हें छोड़ पाने में वह अपनी मजबूरी जाहिर करता है। उसका तर्क है, 'यह व्यावहारिक नहीं लगता कि एक व्यक्ति भावनात्मक रूप से, एक ही के साथ जुड़ा जिंदगी गुजार दे।' (वही, पृ. 23) उसके नए-पुराने प्रेम-प्रसंगों पर ऐतराज जताने पर पत्नी को 'खांटी' या 'गंवारू' औरत के खाते में डाल अपनी उच्छृंखलता को आजादी मान वह पूरी छूट चाहता है। निशि इसके लिए तैयार नहीं है। यदि कोई दूसरी औरत पति के जीवन में है और वह उसे छोड़कर पत्नी और घर-परिवार में रमने को तैयार नहीं है तो निशि का कहना है, 'यदि उसके साथ रहना है तो मेरा भी वादा है कि मैं तुम्हें पीछे से पुकारकर रोकूंगी नहीं...' (वही, पृ. 19) अपने इस फैसले के लिए वह कोई लंबा इंतजार नहीं करती, क्योंकि बंटे हुए पुरुषों को वह शादी के पहले से ही नापसंद करती आई है। अपने पूर्व प्रेमी को 'स्टैच्यू' कहकर निशि आगे बढ़ जाती है। अभिजीत के जीवन में अनेक स्त्रियों की उपस्थिति के बारे में जानकर वह सचमुच उसे छोड़ना चाहती है। किसी को गलत सिद्ध करने या कैसी भी सैद्धांतिकता के आधार पर घर-परिवार नहीं चलता। रुंधे गले और भीग रही आंखों से जब वे दोनों अलग होने का फैसला लेते हैं, जिसमें सक्रिय भूमिका निशि की ही है, 'बिटिया अब भी दोनों के बीच खड़ी दोनों को अपने एक-एक हाथ से पकड़े खड़ी है।' (वही, पृ. 25) किसी सुस्पष्ट निष्कर्ष के बिना भी यह अस्पष्ट नहीं रहता कि बीच में खड़ी बच्ची के रहते-चाहते हुए भी फैसले पर अमल शायद तत्काल संभव नहीं है।

अपनी स्त्री-चिंता की प्रकृति को नीला प्रसाद सामान्यतः दो परस्पर विरोधी स्तर की स्त्रियों को आमने-सामने रखकर खेलती हैं—बहुत कुछ जक्सन-पोजीशन की प्रविधि द्वारा। यह तरीका चंद्रकिरण सौनरेक्सा की कहानी 'छोटे कमीन : बड़े कमीन' जैसा है। नीला प्रसाद की कहानियों में 'एक जुलूस के साथ-साथ', 'विधवाएं', 'उनकी हार', 'लिपस्टिक' आदि इसी प्रकार की कहानियां हैं। 'एक जुलूस के साथ-साथ' में वर्षों बाद प्रौढ़ावस्था को पहुंची मधुमिता और सुनीता अचानक टकरा जाती हैं। कभी वे साथ पढ़ती थीं और होस्टल में भी रूममेट थीं। मधुमिता से सुनीता को पहचानने में कोई चूक नहीं होती। जो मधुमिता वार्डन जी. वत्सला के विरुद्ध निकाले गए जुलूस से अधबीच से लौट आई थी, सुनीता और लता दी को वहीं छोड़कर, और बाद में बाकायदा माफीनामा लिखकर उस प्रसंग से अपने को अलग कर लिया था, आज यथास्थितिवाद के विरुद्ध सामाजिक परिवर्तन की पक्षधर है। उसके इस बदलाव के मूल में कहीं न कहीं वह घटना ही है। तब की क्रांतिकारी तेवर वाली सुनीता आज घर-गृहस्थी में रमी उस सबको अपनी भावुकता बताकर अपना बचाव करती है। कहीं विदेश में जा बसी लता दी का भी यही हाल है। उस गिल्ट के कारण ही वस्तुतः मधुमिता के जीवन की दिशा जैसे बदल गई है। सुनीता आज स्वयं किसी कॉलेज में वार्डन है। उसका मत है कि आज लड़कियों के लिए सेक्स और ब्वाय-फ्रेंड जेब-खर्च जुटाने का एक साधन हैं। न उनमें अक्षत कौमार्य की जिद है, न ही वे पहले की लड़कियों की तरह भीरू और संकोची हैं, लेकिन आज मधुमिता सुजाता की इस बदली हुई मनःस्थिति से सहमत नहीं है। पुरुष आज भी अलबत्ता उसी मानसिकता में जी रहे हैं—दहेज और अक्षत कौमार्य के मिथक में। आज भी दोनों पुरानी सखियां एक-दूसरे के आमने-सामने हैं, लेकिन उनके खड़े होने की जमीन बदल गई है। मधुमिता न लड़कियों के मामले में उससे सहमत है, न ही पुरुषों के। आखिर उसे भी अपनी दो जवान बेटियां ब्याहनी हैं। इसी तरह 'विधवाएं' में भी दो परस्पर विरोधी प्रकृति की स्त्रियां आमने-सामने हैं। जो सचमुच विधवा है,वह सुहागन जैसी लगती है, अपने रख-रखाव और साज-सज्जा से और जो सुहागन है, अपनी सादगी और सरलता के कारण वह विधवा जैसी लगती है। पत्नी के रूप में विधवा हो चुकी महिला के अनुभव बहुत अच्छे नहीं रहे हैं। विवाह के पूर्व जो एक उमड़ती-घुमड़ती नदी की तरह थी, पत्नी होकर वह एक सूखी धारा में बदल जाती है। सूखने पर भी यह अहसास उसे हरिआए रखता है कि 'वह कभी नदी थी'। उसे लगता है कि पति की सारी संपन्नता और समृद्धि के बीच पति-पत्नी का रिश्ता, केटमिलेट वाले मालिक-नौकर का रिश्ता ही रहा है। अपना अनुभव बयान करते हुए वह कहती है, 'हम आपसी सामंजस्य वाले पति-पत्नी समझे जाते थे—उनके निधन तक मैं समझती थी कि यही सच है, पर उनके नहीं रहने पर लगा कि जिसे आपसी सामंजस्य समझती थी मैं, वह कुछ और था—नौकर और मालिक का रिश्ता, जहां मुंह लगा वफादार नौकर थोड़ी छूट ले लेता है, सलाह दे देता है और उदार मालिक बुरा नहीं मानता, श्रेष्ठता का बाना ओढ़े उसे कह लेने देता है। नौकर के हाथ पसारने के पहले ही उसकी जरूरत का अंदाजा लगा उसे अतिरिक्त पैसे दे देता है...' (वही, पृ. 44) इसका प्रतिवाद करते हुए वाचिका कहती है कि पति के प्रति वह कुछ अधिक ही कठोर हो रही है, लेकिन सच्चाई शायद यही है कि उस सबकी प्रतिक्रिया में ही वह आज विधवा जैसी दीन-हीन, मलिन नहीं दिखना चाहती। पत्नी के रूप में तब उसने अपने को एक ऐसे बैल के रूप में देखा है, जो पति की धुरी के चारों ओर घूमने के अलावा और कुछ जानती ही नहीं। सिंदूर, व्रत-उपवास जैसे सब उसी का हिस्सा थे। आज उसे लगता है कि सजी-धजी खुशलिबास स्त्री अपने को भी अच्छी लगती है, दूसरों को भी। उसका यह विद्रोही भाव ही कहीं उसे अपने ढंग से जीवन जीने के निर्णय तक ले आया है। दूसरी ओर वाचिका के रूप में जो सधवा स्त्री है, वह और उसका पति दोनों नौकर हैं। उनका आग्रह मित्र की तरह रहने का रहा है। विवाह के प्रतीक-चिह्नों में उनका विश्वास नहीं है। जेवर सारा लॉकर में पड़ा है। फिर जैसे उसका सवाल उसे ही कचोटने लगता है—मांग भले ही खाली हो, 'बिस्तर' क्यों खाली है? 'यह वैसा ही जीवन था कि हम एक-दूसरे को कुछ दे ही नहीं पाते थे—शरीर, न भावनाएं, न उपहार, न थोड़ा-सा वक्त, थोड़ी-सी हँसी, थोड़ी-सी गप, थोड़ा-सा प्यार।' (वही, पृ. 46) इसका कारण भी उससे छिपा नहीं है—'सोच' हमारे जीवन को वैसा ही ढालती है और हमें अनजाने-अनचाहे ही अपने हिसाब से बना लेती है। 'उनकी हार' में तीन स्त्रियां हैं—रुचि, रीता और आदिवासी

युवती धनिया कामीन। मन्नू भंडारी की 'मैं हार गई' की तरह रीता भी अंततः हार जाती है, क्योंकि जो वह स्वयं नहीं कर सकी, ज्यादतियां सहती पति के प्रसंग में, वह रुचि और धनिया ने कर दिखाया है। उसकी अपनी बेटी तनु भी शायद करे। 'महाराजा' में बैठना कभी रुचि को अच्छा नहीं लगा, लेकिन आज रीता के साथ वहीं बैठकर वह पहली बार उदास होकर नहीं निकल रही है। रुचि का आदर्श रीता नहीं, धनिया है। अपने अवैध संबंधों के मामले में नहीं, अपनी स्वतंत्रता और खुशी खोज निकालने के अपने उद्यम और साहस से उस पर अमल के मामले में। यही सोचकर उसे खाना भी अच्छा लगने लगता है, और पहली बार 'महाराजा' में आकर पाई खुशी भी।

नीला प्रसाद के इस संग्रह में कम-से-कम तीन कहानियां और ऐसी हैं, जो एक नए उभरते कहानीकार की विस्फोटक संभावनाओं के साथ उनकी कुछ सीमाओं की ओर भी संकेत करती हैं, जिनसे आगे के लिए बचकर और भी बड़ा कुछ किया जा सकता है। ये कहानियां हैं 'एक मस्जिद समानांतर', 'आखिरी मुलाकात के इंतजार में' और 'पौधे से कहो मेरे जन्मदिन पर फूल दे'। इनमें 'एक मस्जिद समानांतर', जैसा कि कहानी के शीर्षक से संकेत मिल जाता है, बाबरी मस्जिद के ध्वंस का सामान्य आदमी के जीवन पर पड़ते प्रभाव का आकलन है, जिनका इस प्रसंग से दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं होता। यहां बाबरी मस्जिद दो भिन्न संप्रदायों और धर्मों के लोगों के प्यार का प्रतीक बनकर आती है, जो अपने ध्वंस के साथ उनके प्रेम को भी अपनी ही नियति में ढाल और बदल देती है। यहां राष्ट्रीय घटना-प्रसंगों की उपस्थिति व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करती है, 'पर लड़की के मन में टूटी मस्जिद का इलाका विवादास्पद बना रहा। सिर्फ देश में नहीं, उसके अंदर भी कानूनी बहसें चलती रहीं और बयान बदलते रहे। कारगिल में युद्ध होता रहा, मुशर्रफ-वाजपेयी वार्ता हर बार असफल होती रही, मस्जिद के इलाके को लेकर दोनों पक्षों में लामबंदी होती रही, बम विस्फोट की तहकीकात जारी रही, सीमा पर तनाव बना रहा, कश्मीर में लोग मरते रहे और गोधरा क्या पूरा गुजरात जलने लगा...ऐसे तनावों के बीच प्यार कैसे पनपे? कैसे करें दो विधर्मी प्यार, जब कमरे से बाहर उन्हें जान से मारने को लोग घात लगाए बैठे हों!' (वही, पृ. 75/76) विवाहित और अपने को लड़की का हितैषी मित्र होने का दावा करने वाला उसका सहयोगी लड़के के जन्मदिन पर उन दोनों के किसी होटल में साथ रहने के प्रस्ताव पर हत्या की सीमा तक जाने की धमकी देता है। बास सहित सब इस विधर्मी लड़के के विरुद्ध हैं, जो लड़की की सहायता और सहयोग के नाम पर कुछ भी कर सकते हैं। अपने प्रति लोगों का आक्रोश और घृणा देख अंततः लड़का किसी और कंपनी में चला जाता है। नौ वर्ष बाद वह लड़का एक दिन अचानक फोन पर लड़की से सवाल करता है—मस्जिद तो तुमने कब की तोड़ दी थी, क्या मंदिर बना पाईं? लड़की के पास उसके सवाल का कोई जवाब नहीं है। गुजरात में जलाए जाते लोगों की व्यथा महसूसते उस आग में साक्षात घिरी लड़की फोन का रिसीवर हौले से रख देती है।

'पौधे से कहो मेरे जन्मदिन पर फूल दे' एक नौकरीपेशा मां और उसकी किशोर होती बेटी की कहानी है। मां की उपेक्षा और कठोरता ने, लड़की को लगता है, उसे जिद्दी बनाकर बिगाड़ दिया है। वह एक पैंपर्ड चाइल्ड की दहलीज पर आ खड़ी हुई है। आतंक, जिद और दंड की भाषा के विरुद्ध वह विद्रोह करती है। वह प्रेम और अपने प्रति लगाव की भाषा पर जोर देती है। लड़की से यह छिपा नहीं है कि उसे प्रताड़ित करके मां रात को छटपटाहट के कारण ठीक से सो नहीं पाती। मां लड़की को अपनी तरह नौकरी के लिए तैयार करना चाहती है। लड़की पिता की तरह अपने में खोई और शांत बनना चाहती है, जो पेशे से पत्रकार है और रात में ड्यूटी के कारण जिसका घर में होना, न होना बराबर है। बनती और इतराती मदर्स-डे पर वह मां को कोई उपहार देने से मना करती है। उसकी कड़ाई के प्रति अपनी नाराजगी भी जताती है। फिर अपने पौधे पर खिला पहला गुलाब लाकर वह उसे भेंट करती है। लड़की बहुत चाहती रही थी कि वह गुलाब उसके जन्मदिन पर अपना पहला फूल दे, लेकिन खिला वह आज मदर्स-डे पर है। प्यार से इठलाती हुई वह मां से यह प्रार्थना करने को कहती है कि अगली बार वह उसके जन्मदिन पर फूल दे। पौधे के बहाने जैसे वह मां द्वारा अपने लिए प्रेम के रंग और खुशबू मांग रही हो।

नीला प्रसाद की ये कहानियां किसी नए लेखक की कहानियों जैसी नहीं लगतीं, न भाषा और न ही कलात्मक स्थान की दृष्टि से। अपनी अंतर्वस्तु के विनियोग की दृष्टि से भी ये खूब पकी और तपाई गई कहानियां हैं। वे खूब परिपक्व और मंजी हुई अभिव्यक्ति का प्रभाव छोड़ती हैं। कहीं अछूती उपमाएं हैं—'दिन जो पहले पंख लगाकर उड़ते चले जाते थे, पेड़ की छायाओं की तरह छोटे-बड़े गुजरने लगे।' (वही, पृ. 122) कहीं प्यार में पड़ी लड़की नदी होती है, कहीं पक्षी। कंपनी में पुरुषों के माहौल में नारी-देह और 'दवा-पानी' की व्यवस्था वाली भाषा ऐसे ही रचाव का उदाहरण है।

इन कहानियों में 'आखिरी मुलाकात के इंतजार में' इसका एक उदाहरण बन सकती है कि कहानी में रचनात्मक स्खलन कैसे अपनी राह बनाता है। यहां पुरुष निर्णयहीनता का शिकार है—भावुक, अमूर्त्त और दोहरे जीवन के द्वंद्व में फंसा। मन में प्रेमिका और घर में पत्नी के तनाव में वह पत्नी को छकाने और प्रेमिका को रिझाने के प्रपंच में अपनी सारी शक्ति खर्च करता है। आधे दशक के लगाव के बावजूद वह प्रेमिका को कभी अपने मन की बात बता नहीं पाता। इस निर्णयहीनता से कहानी में अमूर्तता आती है और इसकी क्षतिपूर्ति के लिए जैसे लेखिका भाषा में कविता जैसे तुकों का इस्तेमाल करती है—भगाता/बसाता, बयार/इंतजार, चाही/निबाही, जलता/गलता आदि इसके ढेरों उदाहरण कहानी में मौजूद हैं। कहानी में अमूर्तन का अपना तर्क होता है। उस तर्क से ही उसकी अपरिहार्यता सिद्ध होती है, जबकि यहां वैसा कुछ नहीं है, लेकिन कुल मिलाकर नीला प्रसाद की ये कहानियां बड़ी अपेक्षाओं और संभावनाओं का संकेत देती हैं।

सातवीं औरत का घर/नीला प्रसाद/शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032/संस्करण 2001/मूल्य : ` 175

372, छोटी बमनपुरी, बरेली-243003
मो. 09319838309

हहराना चाहती है इच्छा की दूब

वंदना मिश्रा

एक ऐसा निराशापूर्ण समय, जहां कोई उम्मीद नहीं नज़र आती, जिसके लिए शायर पूरे विश्वास से कहता है, ''या तो दीवाना हँसे या तू जिसे तौफीक दे/वर्ना इस जहां में मुस्कुराता कौन है।''

मलय का नया काव्य संग्रह 'इच्छा की दूब' एक नई उम्मीद लेकर आया है। हमारे युग की खो गई उम्मीद की किरन दिखती है यहां। मलय की कविताएं आशा के गहन स्वरों से बनी हैं। अपने पर विश्वास है, अपना अस्तित्व चाहे संपूर्ण नहीं, परंतु इतना कम भी नहीं कि उसे कुचला जा सके। ''मैं एक कतरा सही, मेरा अलग वजूद तो है।'' मलय भी कहते हैं, ''तिनका जैसा हूं पर/दम-खम की दखल में हाथियों की तरह।''

आधुनिक व्यक्ति का लक्षण है अपने सोचे को संदेह की नजर से देखना और प्रतिपल बदलने के लिए तैयार रहना, 'सही सोची-समझी बात पर/अड़ा रहकर भी/बार-बार बदलकर नया होता है।'' (पृ. 120)

चुनौतियों से बिना डरे चूक होने पर भी ''दुधारी तलवार पर चलता हूं।'' वो स्वाभिमानी है, पर अहंकारी नहीं, ''झुकने में/महसूसता नहीं/अपनी ताकत की कोई भी कमी।'' यह स्वाभिमान नहीं, अहंकार की कमी है। तभी तो वे काल से टकराने में डरते नहीं—''सीधे सामने निकलकर आने से/इस काल को कांटे-सा गड़ता हूं।'' (पृ. 123)

कहते हैं जो व्यक्ति दिन में अच्छे काम करता है, वह रात में चैन की नींद सोता है। 'करना शुरू करें' कविता बड़ी खूबसूरती से बताती है कि कैसे सोते आदमी को बदलाव की चाहत बेचैन कर देती है, पर जागने पर वह तमाम दुविधाओं के कारण उसे कार्यान्वित नहीं कर पाता है।'' बस रात में सोते हैं/तो जाग-जाग चौंक उठते हैं।'' एक बेचैनी भर गई है कवि के भीतर और परिवर्तन की चाहत उसे चैन नहीं लेने देती। ''अपने भीतर की परिधि को/फैला पाने की पहल में/दिनमय हो जीता हूं/रात में भी।'' (पृ. 22) लेकिन यह बेचैनी उसे हताशा से नहीं भरती, उसके अंदर की जिजीविषा उसे हरा-भरा रखती है, ''हाय हाय की हताशा को/लतियाकर/...हहराना चाहती है/इच्छा की दूब।'' (पृ. 26) त्रिलोचन ने लिखा है, ''आभारी हूं पथ के सारे आघातों का/मिट्टी जिनसे वज्र बनी उन उत्पातों का।''

समय बहुत खतरनाक है, ''यात्रा से लथपथ पक्षियों की/चोंचें खाली हैं।'' (पृ. 126) लेकिन हार न मानना खासियत है कवि की, ''ऊसर से भी/हल चलाते जाने की असफलता रास्ता दिखाती है/एक अलग रंग की/तरल जिजीविषा...मरने के बाद भी माने

तो/समर में पूरी तरह लड़ता हूं।'' (पृ. 31)

कवि सोचता है कि यदि वह बोला तो निश्चित रूप से चिंगारियां फूट पड़ेंगी, ''चुप हूं, सच मानें, बोलूं तो बातों से/उठती चिंगारियां।'' (पृ. 33) कुंवर नारायण कहते हैं, ''कोई दुःख मनुष्य के साहस से बड़ा नहीं/वही हारा जो लड़ा नहीं।'' कवि के सामने मजबूरियां हैं, पर वे उनके मन को गिरा नहीं सकती हैं, ''हौसला मेरी मजबूरियों का/मन को गिराने में/हजार बार हारता है।'' (पृ. 42)

शब्द के महत्त्व को जानता है कवि। शब्दों के अंदर ही भीतर से हरा-भरा करने की शक्ति होती है, ''मूलतः मैं एक रूखड़/शब्दों के जंगल में धंसकर निकला/हरा हो गया/भरा-भरा हो गया।'' केदारनाथ अग्रवाल ने लिखा है, ''जहां गिरा मैं/कविताओं ने मुझे उठाया।'' (पृ. 71) न्याय-व्यवस्था आंखों पर पट्टी बांधे देख रही है, ''सुंदरता नगरों महानगरों की/कानों में तेल डाले चुप है/न्याय भी आंखों पर पट्टी बांधे है? यह लिथड़ाते अधिकारों की नागरिकता नंगी है।'' (पृ. 116)

केदारनाथ अग्रवाल ने लिखा है, ''पत्थर भी बोलते हैं/जब चिड़ियों का झुंड बैठ जाता है/उन पर/और वह चहकती हैं आपस में'' मलय को भी उम्मीद है। एक दिन बदलेंगे शुष्क लोग, ''जब बरसने का बहाना लिए आएंगे/इनकी लगातर सिर चढ़ती/जलन से जल नहीं जाएंगे?/भागेंगे कहां आकाश में? (पृ. 53) देकार्त ने कहा, 'मैं सोचता हूं इसलिए में हूं' मलय लिखते हैं उसी तरह, 'सोचता है, उसे दिखता है' ये कविता मानव की विकास यात्रा की कथा है, पर इसमें भी जोर आत्मा की सच्चाई पर दायित्व का अंजन उसकी आंखों में आंजा गया हो, तब दंभ उसे छू न पाया हो। खुद अपने को दूसरों से छोटा समझता है।'

(पृ. 133) वही ऐसा आदमी है जिसकी औकात का/ऊपर उठता है/बढ़ता प्रकाश स्तंभ है।''

केदारनाथ सिंह ने लिखा है, ''मैं पूरी ताकत के साथ/शब्दों को फेंकना चाहता हूं आदमी की तरफ/यह जानते हुए कि आदमी का कुछ नहीं होगा/मैं भरी सड़क पर सुनना चाहता हूं वह धमाका/जो शब्द और आदमी की टक्कर से पैदा होता है।''

मलय को भी यह कष्ट है कि कानून का क्या अस्तित्व है? क्या सिर्फ विनाश करना? आत्माओं की कराह सुनाई क्यों नहीं पड़ती है? ''आत्माएं पत्थर-सी लुढ़कती, भटकती भागती किसी तरह/यहां-वहां होकर विवश जीती हैं/इनकी कराह/इन सभ्य बहरों को सुनाई नहीं देती/क्या कानून सिर्फ विनाश करता है।'' (पृ. 115)

दुनिया इतनी नीरस, इतनी कुटिल तो नहीं थी, कुछ ही दिन पूर्व, लेकिन अब समय बदल रहा है—कुछ ही दिन हुए/अभिन्न और अपनापा से भरी/गहरी निर्मल नदी ने/साथ बह चलने से हाथ/खींच लिया/...अभी भी सूखी सतह/थरथराती है।''

लेकिन उम्मीद नहीं छोड़ता कवि, ''विषमता की बर्बरता/इतनी विकराल है/... इच्छाएं, फिर भी विवेक की ऊंचाई से/...हार नहीं मानती।'' (पृ. 79)

मलय की कविताओं में बड़े-बड़े शब्दों का जाल नहीं है, बहुत बड़े-बड़े आश्वासन या बड़ी-बड़ी बातें नहीं हैं, परंतु उम्मीद की एक उजली किरण जरूर है उनकी कविताओं में। कुल मिलाकर पठनीय है संग्रह।

इच्छा की दूब/मलय/परिकल्पना प्रकाशन, डी-68, निराला नगर, लखनऊ-226006 /मूल्य : ` 90

वरिष्ठ प्रवक्ता (हिंदी), जी.डी. बिनानी पी.जी. कॉलेज, मिर्जापुर-231001, मो. 09415876779

खबरें और अन्य कविताएं

खबर आज की...

चिलवंत प्रकाश गोरोबा

गंगा प्रसाद विमल का सन् 2006 (कुछ तो है) के बाद सन् 2011 में 'खबरें और अन्य कविताएं' नाम से लगभग चार-पांच सालों बाद एक अनोखा कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ है। इसमें कुल बीस कविताएं संग्रहित हैं। यह कविता-संग्रह बिलकुल आज की ताजा खबरें सुनाता है। आम आदमी को केंद्र में रखकर लिखा गया यह कविता-संग्रह उसकी असह्य पीड़ा को व्यक्त करता है। आज का आम आदमी राजनैतिक-अराजनैतिक बर्बताओं, क्रूरताओं और दमन के साम्राज्य में अपने दिन काट रहा है। उसका समूचा व्यक्तित्व एक जाने-अनजाने आतंक, भय और असुरक्षा की भावनाओं से घिर चुका है। अहोरात्रि घटित होती दुर्घटनाएं, आतंक व उग्रवादी गतिविधियों के तहत होती हत्याएं, प्रशासनिक दमन, अत्याचार और क्रूरता ने उसकी आस्था, विश्वास और सदृश्य विचारधारा को समूल नष्ट कर दिया है। इन स्थितियों में गंगाप्रसाद विमल का यह कविता-संग्रह निश्चित रूप से लाभकारी सिद्ध होगा।

आज इस व्यवस्था के प्रति विश्वास का उठ जाना, किसी भी समय कुछ भी घटित होने की अपेक्षा मिथ्या तर्क पर व्यवस्था को ढोना और इन सबके परिणामों को खुली दृष्टि से देखने से हमें खीझ और क्षोभ ही अधिक होता है। विमलजी 'आत्महत्या' कविता में किसानों की आत्महत्याओं को देखकर कहते हैं।

मेरी आंखें भी/वही देखती हैं औरों की तरह/देख-देखकर दहशत में/कोसता हूं होने को/कितना बेहतर होता/इस वक्त में न होता।

आत्महत्याएं करने को मजबूर करने वाले वही हैं, जिनको जन-प्रतिनिधि के रूप में चुना गया है। इसलिए वे आगे कहते हैं—

वे हमारे भाग्य का/बंटवारा करते हैं। निर्धारण भी/अब हमें बारिश पर/निर्भर नहीं रहना है न बीज पर/न खाद पर हम कह सकेंगे कुछ/अब हमें कर्ज पर/जीना है भरे तनाव में।

तनाव में फंसी किसानों की यह प्रतिक्रिया वस्तुतः तनावों को अपने ऊपर से सहज गुजरने नहीं देती है। उनकी विवशता है कि व्यवस्था की बहुतेरी विसंगतियों से चौंकें नहीं। कर्ज लेना किसानों की मजबूरी है और आत्महत्या करना अब नियति बन गई है। और 'नियति अगर कुछ है तो/त्रासदी' अंत में कवि कहता है कि—

एक-एक आत्महत्या/हत्या है असल में/एक-एक आत्महत्या/महाकाव्य है स्वयं में।

प्रजातंत्र के संदर्भ में विमलजी ने

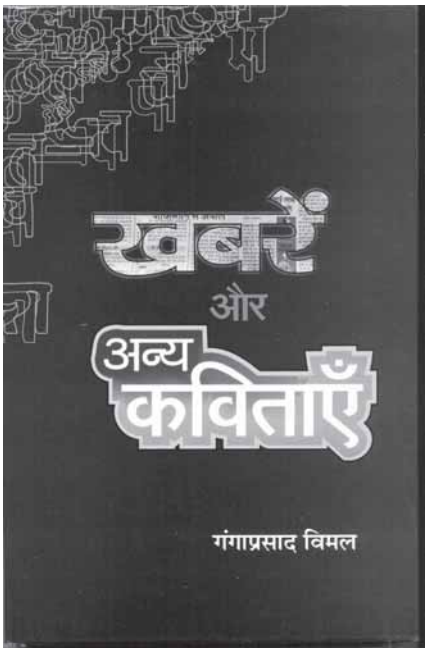

'आधुनिकता और सांस्कृतिक संक्रमण' नामक अपने लेख में लिखा था कि, ''प्रजातंत्र अपनी वर्तमान शक्ल में केवल छल लगता है। प्रजातंत्र की ऐसी विदूषित रूपाकृति बनाने का कार्य किया है, स्वार्थांध सत्तालोलुप पूंजीपतियों ने। यहां से सत्ता के महत्त्व का एक और पक्ष उभरता है कि जनशक्ति को वशीभूत करने का सरलतम उपाय 'प्रजातंत्र' है। इसलिए पेशेवर राजनैतिक खिलाड़ी प्रजातंत्र का दोहन करते हैं। उससे भी अपनी सत्ता लिप्सा की परितृप्ति करते हैं। सामान्य जनसमुदाय तक प्रजातंत्र की इस असलियत का रूप कभी नहीं खुलता, क्योंकि लफ्फाजी और बनावटी प्रदर्शन के जरिए सत्तालोलुप वर्ग सदैव अपने को जनहित का संरक्षक, सदैव अपने को लोगों का सेवक और हितकारी सिद्ध करने में लगा रहता है।'' (आलोचना के सौ बरस-2, सं. अरविंद त्रिपाठी, पृ. सं. 77, शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, दिल्ली-110032) दरअसल विमलजी ने यह यह आलोचनात्मक टिप्पणी धूमिल की 'पटकथा' नामक कविता के संदर्भ में बहुत पहले लिखी थी, लेकिन आज हम यह देखते हैं कि धूमिल की 'पटकथा' कविता से लेखक विमलजी के इस कविता-संग्रह तक परिस्थितियों में कुछ खास परिवर्तन नहीं हुआ है। विमलजी के इस कविता-संग्रह की आजादी, आत्महत्या, इस बार, खबरें आदि कविताओं में इस प्रजातंत्र की पोल खुल गई है। 'आजादी' कविता में कवि लिखते हैं—

दूसरों के कब्जे से/आजादी का/
मुकम्मिल अहसास/अभी दूर है चाहे/हम चुन
सकते हैं अपना प्रतिनिधि।

उसी तरह—

रोते थे देश की दशा पर/आओ बचाओ
बचत करो/वंशज देते रहे शराब पार्टियां।
(खबरें)

'इस बार' कविता में विमलजी पूंजीपतियों के संदर्भ में लिखते हैं—

गरीबों के जन्मांग देख चुके हैं/अमीर
लोग/खुश है उन्हें हासिल होगी/नगर के पास
की जमीनें/सस्ते में

और—

चिंतित हैं वे वैश्विक एकता के लिए/वे
चिंतित हैं कब बनेंगे बड़े-बड़े/व्यापारिक केंद्र/
सर्राते से जाएंगी, आएंगी उनकी गाड़ियां/इन

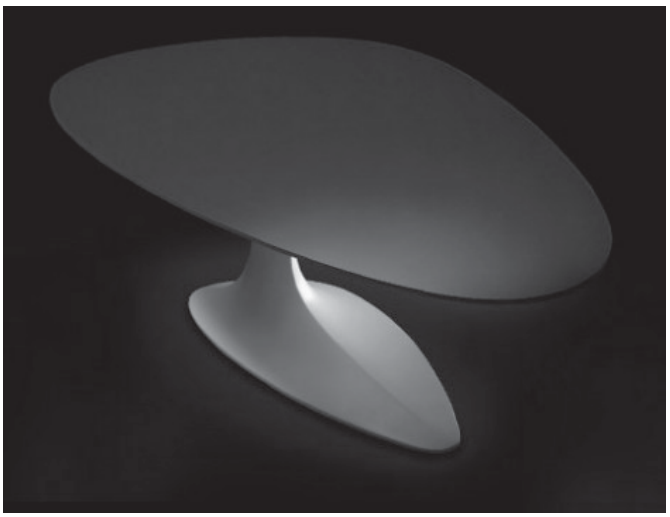

सब चीजों के बीच/
ढोना पड़ेगा बोझ गरीबों
को/ढोते ही आ रहे हैं
इतिहास में/झेलने पड़ेंगे
युद्ध/ सहने पड़ेंगे रोग-
शोध/अमीरों के सेवार्थ।

'किसी ने नहीं देखा' कविता में नेता लोग किस तरह अपनी संपत्ति का विस्तार कर रहे हैं, यह दिखाया है। जिस तरह से किसी ने नहीं देखा की धरती का वक्ष चीरकर कब पौधा बाहर निकलता है, उसी तरह से नेताओं की संपत्ति का भी किसी को पता नहीं चलता। इसलिए कवि कहते हैं—

अखबार खबर देगा/राजनीति के
खिलाड़ी/कब्जा कर रहे हैं मसलों पर/और
फैला रहे हैं चारों ओर/नहीं देखा किसी ने/
विस्तार।

इस कविता-संग्रह में 'खबरें' नाम से जो कविता है, वो आज के चैनलों द्वारा दी जाने वाली खबरों के संदर्भ में है। विमलजी ने इस कविता को व्यंग्यात्मक शैली में लिखा है। विमलजी कहते हैं—

जो रहता है खबरों में/लाला लालों के
लड़के/और उनके झगड़े/राष्ट्रीय समस्याएं हैं।

उसी तरह—

सविस्तार लिखूंगा खबर
जो दिखें
और दुर्घटना की तस्वीर के बाद
सुंदरी का चित्र
और—

सिर्फ बाढ़ से मरे कुछ हजार/करोड़पति
हुए अभिनेता/भूकंप ने तोड़े घर/मरे बच्चे/
विस्तार से लिखूंगा खबर पर्दे पर/फिलहाल
देखें बार बालाएं।

इन खबरों में आम-आदमी गायब है। वैसे इन चैनलों की खबरों में आम-आदमी का क्या काम? चूंकि चैनल उन्हीं पूंजीपतियों के ही तो हैं। यही आज की ताजा खबरें हैं जिनका आम-आदमी से किसी तरह का कोई भी संबंध नहीं है, विमलजी यहां पर यही कहना चाहते हैं। राजनीतिक खिलाड़ी हो या पूंजीपति, ये लोग नैतिक मूल्यों से कोसों दूर हैं। आम-आदमी के प्रति द्वेषपूर्ण प्रतिद्वंद्विता की भावना से आपूरित करके स्वयं लाभांश बटोरते हैं। आम-आदमी के प्रश्न सदैव की भांति अनुत्तरित रह जाते हैं। इसलिए आम आदमी की हालत इस तरह हुई है कि—

मेरी हँसी में/सिर्फ बनावट है दिखावट
है विनोद में/किस्सों में खास तौर से/जन्मजात
दुःख पसरा है मेरे घर के/चारों ओर दूसरों से
छूटा/पसरा है दूसरों का दुःख/मेरे खलिहान
में। (है कुछ बाकी)

इन स्थितियों के कारण कवि भविष्य की कल्पना इस प्रकार करता है—

आगामी भविष्य/वंशजों का वर्तमान
होगा/भूख के फैलाव से निर्मित/हत्याओं का
सैलाब/रक्त सिक्त रास्तों से/बढ़ेगा चतुर्दिक/
होगा ही आतंकदायी/हमारा भविष्य!

यह कविता-संग्रह आज के युग को हमारे सामने लाता है, जहां सबसे ज्यादा भ्रष्टाचार राजनेताओं के द्वारा हो रहा है, जिनके ऊपर देश की कमान होती है और आम-आदमी की स्थिति बहुत ही दयनीय हो रही है। अतः यह कविता-संग्रह पठनीय दृष्टि से और आज के समय को समझने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

खबरें और अन्य कविताएं/गंगा प्रसाद विमल/ किताबघर प्रकाशन, 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिलली-110002, मूल्य : ` 175

पी-एच.डी. (शोधार्थी), हिंदी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद, मो. 7382548492

कविता के नए इलाके में

केवल गोस्वामी

साहित्यिक क्षेत्र में इधर इतने पुरस्कार हो गए हैं कि प्रत्येक शहर के प्रत्येक मोहल्ले में आपको एक पुरस्कृत लेखक मिल ही जाएगा। यह अलग बात है कि उस पुरस्कृत कवि को अपने ही मोहल्ले में कविरूप में कोई न जानता हो और अगर जानता भी हो तो उसकी कविताई से सर्वथा अनभिज्ञ हो। उधर कवि और पाठक (श्रोता) के बीच की खाई और चौड़ी हुई है। कवि को प्रायः शिकायत रहती है कि प्रकाशक कविता-संग्रह छापते नहीं और प्रकाशक का आमतौर पर रोना है कि कविता-संग्रह बिकते नहीं, फिर भी प्रत्येक वर्ष प्रचुर मात्रा में कविता-संग्रह प्रकाशित होते हैं और जब प्रकाशित होते हैं तो उनकी खपत भी कहीं-न-कहीं होती ही होगी! भले ही बारास्ता थोक खरीद वे किन्ही सरकारी पुस्तकालयों की अलमारियों की शोभा बढ़ाते (घटाते) हैं।

प्रायोजित समीक्षाएं और जुगाड़ू पुरस्कार भी कविता से पाठक का संवाद स्थापित करने में प्रायः विफल रहते हैं, शायद इन्हीं कारणों से जेनुइन कविता या तो प्रकाश में आ ही नहीं पाती और अगर किसी प्रकार से आ भी जाती है तो पुरोहित आलोचकों की उपेक्षा का शिकार हो जाती है, इसलिए आलोचना की विश्वसनीयता विवादों के घेरे में रहती है। जहां कुछ रचनाकार पुरस्कारों की चकाचौंध से बुरी तरह प्रभावित हैं, वहीं कुछ अन्य कवि/लेखक अपनी रचनाधर्मिता को इकांत की तरह संभाले हुए हैं, यदि वे कवि/लेखक अपनी रचनाओं के द्वारा थोड़े-से लोगों का ध्यान भी अपनी ओर खींच पाते हैं तो यह कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। पुरस्कारों की इस राजनीति में एक भ्रम तो टूटा ही है कि हर पुरस्कृत रचना श्रेष्ठ रचना नहीं होती और हर उपेक्षित रचना हमेशा निम्न कोटि की नहीं होती, चूंकि चयनकर्ताओं की अपनी मजबूरियां होती हैं, जिससे वे मुक्ति नहीं पा सकते।

कवि अगर अपनी कविता की जमीन को पहचानता है तो उस पर रचना उकेरने के लिए वह अपने अनुभवों का भी चुनाव करेगा, क्योंकि जीवन का प्रत्येक अनुभव काव्यानुभव नहीं होता। इसी प्रकार किसी अन्य के अनुभव को आधार बनाकर भी किसी ठोस रचना की उम्मीद नहीं की जा सकती। जीवन में हर स्तर पर झूठ, ढोंग, आडंबर, अवसरवादिता, भ्रष्टाचार की आंधी में ईमानदार आदमी पिस जाता है। मुक्तिबोध के शब्दों में ''पिस गया वो दो पाटों के बीच ऐसी है/ऐसी ट्रैजडी हैं नीच।'' इसी परिस्थिति के कारण समकालीन कविता खास ढंग की राजनीतिक कविता हो गई है। कविता और राजनीति के इस विराट संदर्भ को समझे बिना युगचेतना को ठीक-ठीक परिभाषित नहीं किया जा सकता। नेमिचंद्र जैन के शब्दों में, ''कवि राजनीतिक संसार की रचना भले ही न करता हो, पर जो भी संसार वह कविता में रचता है, वह यदि सार्थक है तो राजनीति के अनुभव से उसी के औजारों से बना हुआ संसार होता है। सारी सार्थक और समर्थ कविता किसी-न-किसी सार पर परिवेश से आदमी के संबंध को, आदमी-आदमी के संबंध को, अपने आपसे आदमी के संबंध को नए सिरे से परिभाषित करती है, जो राजनीति से बचकर और बाहर रहकर नहीं किया जा सकता। एक पूरे लंबे दौर में हम एक गलतफहमी में पड़े रहे कि राजनीति के संसर्ग से कविता नष्ट हो जाती है।'' कहा जा सकता है कि नया कवि कर्म नए सिरे, नए जीवन संबंधों की बाहरी-भीतरी वास्तविकताओं की तलाश है।

समकालीन कविता हमारी परिचित दुनिया के अनुभव को रचनात्मकता से विस्तृत गहरा, तीखा और नया बनाती है। कवि जहां रोजमर्रा के अनुभव संसार को ठीक से रचने में चूक करता है, वहां उसका संवाद पाठक से टूट जाता है। गढ़ी हुई भाषा और कमाई हुई भाषा का अंतर इस मुहाने पर स्पष्ट होता है, क्योंकि आज की कविता की भाषा केवल वस्तुस्थिति की नहीं, बल्कि संघर्ष की भाषा है, इसलिए वह अपने असली पाठक के ज्यादा नजदीक आई है।

'जहां से तवी गुजरती है' शीर्षक काव्य संकलन में संगृहीत तेरह कवियों में से

अधिकांश का कोई निजी कविता संकलन प्रकाशित नहीं हुआ है, किंतु उनकी संकलित कविताएं न केवल आश्वस्त करती हैं अपितु संभावना के नए द्वार खोलती हैं, वह इसलिए भी कि ये तमाम कवि उन क्षुद्रताओं से बचे हुए हैं, जो अधिकांश महानगरीय कवियों को प्रताड़ित करती हैं, भौगोलिक परिस्थितियां और परिवेश (सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक) कवि के अनुभवों और उसकी रचना को सीधे तौर पर प्रभावित करते हैं। जाहिर है जम्मू का परिवेश किसी महानगर के परिवेश की तुलना में कम प्रदूषित हुआ है, इसीलिए इन कवियों की भाषा-शैली और कथ्य में ताजगी है, चूंकि उनकी सोच वहां की प्राकृतिक छटा और लोक-जीवन से प्रभावित है, जिसका सीधा प्रभाव उनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। मसलन मनोज शर्मा की कविता 'गुफ्तगू' की ये पंक्तियां—बेशक दोस्त/हमारे पास है बातों का लंबा सिलसिला/ और शब्दों का हास्य-मीठा भंडार/बेशक/हम इतने आसान नहीं/जैसे किसी ग्रंथी ने शंख फूंका हो/फिर भी/चल यार 'रंजूर'/आज की रात/ऐसी कही-अनकही ही सही/आज/चूल्हे का गंधाता धुआं ही सही/पर हमारे घरों में/आग बुझाई नहीं/दबाई जाती है/पता नहीं कब/कोई पड़ोसी/आग मांगने आ जाए। इस कविता में वर्णित लोक-जीवन का परिवेश इसे एक अलग पहचान देता है, जो पाठक से सीधे संवाद करती प्रतीत होती है।

वर्ग-संघर्ष को बिना शब्दाडंबर और बड़बोलेपन के व्यक्त करती यह कविता बहुत कुछ कहती है 'दोस्त' शीर्षक से अमीर दोस्त/बरगद की तरह होते हैं/जिसके नीचे उगे होते हैं हम/वे तीखी धूप, वर्षा की नुकीली चोट/और अंधड़ के बगुलों से बचाते हैं/पर हमारी जड़ें गहरी करने में/कोई मदद नहीं करते/न उनकी जमीन के भीतर गई जड़ें/हमारी जड़ों से खुराक बांटती हैं/न जमीन पर खड़े रहने के लिए दरकार पुख्तगी।

अशोक कुमार की इस कविता की परिपक्वता उसकी स्पष्ट जीवन-दृष्टि की द्योतक हैं, यह अहसास की कविता है, अहसास निर्णय की ओर संकेत करता है।

'मां' पर इधर के अनेक कवियों ने कविता लिखी है। पारिवारिक संबंधों में मां का दर्जा सर्वोपरि है, मां के स्नेह और गरिमा की प्रत्येक आयु में आवश्यकता महसूस होती है। मां से बिछुड़ना किसी भी आयु में त्रासद होता है। सुधीर महाजन की 'मां' शीर्षक कविता इसी कड़ी की अनकही कविताओं में से है—

''अब मैं बच्चा नहीं हूं/ कि समझ लूं तुम आओगी/बड़े होने का दुख भी यही है/कि/ हम सच जानते हैं/ मां/सच/ तुम बहुत याद आती हो।''

शेख मोहम्मद कल्याण की 'क्या रहे गांव', 'कच्ची सड़क' कविताएं सांप्रतिक विडंबनाओं को उजागर करती हैं। राज भम्वाल की—'वीरानी-सी वीरानी है', 'प्रश्नों के हिंडोले' कविताएं खामोश चीखें की प्रतिध्वनियां सुनाती कविताएं हैं। कमल चौधरी की चिट्ठियां बदलते समयों में धरती की संवेदनाओं को रेखांकित करती हैं। अमिता मेहता की 'दीया' शीर्षक कविता अंधेरों के विरुद्ध एक विरोध दर्ज करती है। 'औरत' शीर्षक कविता संक्षेप में स्त्री-विमर्श की सार्थक इबारत है। शकुंत दीपमाला की कविताएं भावुकता से ओतप्रोत होने के बावजूद पठनीय और विचारणीय हैं, थोड़े संयम से यह और बेहतर हो सकती थीं।

इस क्षेत्र में महाराज कृष्ण संतोषी एक जाना-पहचाना नाम है, उनकी कविताएं पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने को मिलती हैं। उनकी कविताओं में एक विचार अंतःसलिला की भांति गतिमान होता है, जिससे बहस की बहुत गुंजाइश होती है। डॉ. पवन खजूरिया की संक्षिप्त कविताएं बड़े सलीके से आज की परस्पर विरोधी स्थितियों को उजागर करती हैं। वे एक राजनीतिक बयान भी हैं। कपिल अनिरुद्ध ग़ज़ल में भी महारत रखते हैं, उनके अशआर अपनी दोषहीनता के कारण याद रह जाते हैं। कृष्ण कुमार शर्मा पुरजोर तरीके से अपनी कविताओं में रचनात्मक माहौल की गारंटी चाहते हैं।

जैसा मैंने पहले लिखा, इन कविताओं को पढ़ते हुए समकालीन कविताओं में परिवर्तन की सुगबुगाहट साफ-साफ सुनाई पड़ती है, जो कविता को कविता की शर्तों पर ही उकेरते हैं, ऐसा नहीं कि महानगरीय आततायियों की लपटें यहां न पहुंची हों, वैश्वीकरण के जमाने में ऐसा संभव भी नहीं हो सकता, पर नदी जहां से गुजरती है। वहां ये लपटें स्वतः मद्धम होती दिखाई देती हैं।

इस प्रकार के संकलनों में भाषागत, शिल्पगत और कथन संबंधी कुछ खामियां अगर यहां-वहां झलकती भी हैं तो उन्हें अधिक तरजीह न देकर खूबियों को ही उजागर किया जाना चाहिए। पाठक इस संग्रह का स्वागत करेंगे, ऐसा विश्वास करने का मन होता है, क्योंकि संकलित कवियों की काव्य यात्रा का यह पहला पड़ाव है, अभी उन्हें मीलों चलना है, उनके कदमों की पुख्तगी से आभास होता है कि वे ऐसा कर पाएंगे।

तवी जहां से गुजरती है/संपादक : अशोक कुमार/यूनीस्टार बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, चंडीगढ़/ मूल्य : ` 150

जे-363, सरिता विहार, मथुरा रोड, नई दिल्ली-110076, मो. 09871638634

महाकवि के काव्य-सौंदर्य की अद्‌भुत अभिव्यक्ति

श्रीकांत सिंह

हिंदी-आलोचना-संसार में प्रो. नंदकिशोर नवल की पहचान मूलतः आधुनिक हिंदी कविता के गंभीर अध्येता व प्रखर आलोचक की है। उन्होंने आधुनिक हिंदी कविता के अनेक महत्त्वपूर्ण कवियों पर समग्रता में विचार किया है, परंतु, उनकी सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'तुलसीदास' उनके विषय में पहले से प्रचलित इस धारणा को तोड़ती नजर आती है कि वे फकत आधुनिक हिंदी कविता के ही आलोचक हैं। हालांकि, बड़े विनम्र भाव से पुस्तक की 'प्रस्तावना' में उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि 'मध्यकालीन साहित्य में मेरी कोई पैठ नहीं है।' और, 'मेरी यह पुस्तक स्वांतः सुखाय ही लिखी गई है।' (पृ. 7) लेकिन, लेखक की उक्त 'विनम्रता' और 'निजसुखाय रचनारतता' की बात तब पूरी तरह खारिज हो जाती है, जब इस पुस्तक की परिक्रमा करने के बाद पाठक को तुलसीदास के काव्य-सौंदर्य के रसास्वादन का अद्‌भुत आनंद प्राप्त होता है।

यह सच्चाई है कि तुलसीदास वैश्विक स्तर के वैभवशाली कवि हैं और हिंदी के सर्वाधिक ख्यात, लब्धप्रतिष्ठ व लोकप्रसिद्ध महाकवि। इनके व्यक्तित्व-कृतित्व का अंतर्विरोध अथवा श्वेत-स्याह पक्ष यह भी है कि वे जितने अधिक स्वीकृत हैं, उतने ही अधिक विवादित भी। उनकी 'स्वीकृति' और 'तिरस्कृति' को लेकर हिंदी में अनेक दृष्टिकोणों से पहले विचार हो चुके हैं, पर उनके कतिपय विश्वासों व विचारधाराओं से असहमति रखने वाले प्रबुद्धों ने भी प्रायः उनकी कवित्व-कला का मुक्त कंठ से गुणगान ही किया है। अब जो 'विशिख' और 'व्याल' शब्द के क्रमशः अंतिम अक्षर 'ख' और 'ल' हैं, उनकी तो बात ही दीगर है। शायद, इसीलिए महाकवि ने 'मानस' के प्रारंभ में ही उनकी वंदना भी कर डाली है : 'बहुरि बंदि खल गन सतिभाएं। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएं।।'...जब अनेक दृष्टिकोणों से तुलसीदास पर विचार हो चुके हैं, कई निष्कर्ष निकाले जा चुके हैं, उन्हें फना कर देने के फतवे जारी हो चुके हैं, ऐसे में तुलसीदास पर पुस्तक लिखना और कुछ नूतन अभिव्यक्ति करना निश्चय ही एक जोखिम भरा कार्य है, जिसे प्रो. नवल ने जानदार ढंग से पूरा किया है।

...समीक्ष्य पुस्तक एक संक्षिप्त, परंतु सारगर्भित 'प्रस्तावना' से शुरू होती है। तीन खंडों—1. अन्य काव्य, 2. रामचरितमानस, 3. विनयपत्रिका में बंटी यह पुस्तक विद्वानों द्वारा स्वीकृत तुलसीदास की प्रामाणिक बारह रचनाओं के साथ हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है। पुस्तक के दूसरे और तीसरे खंड में क्रमशः

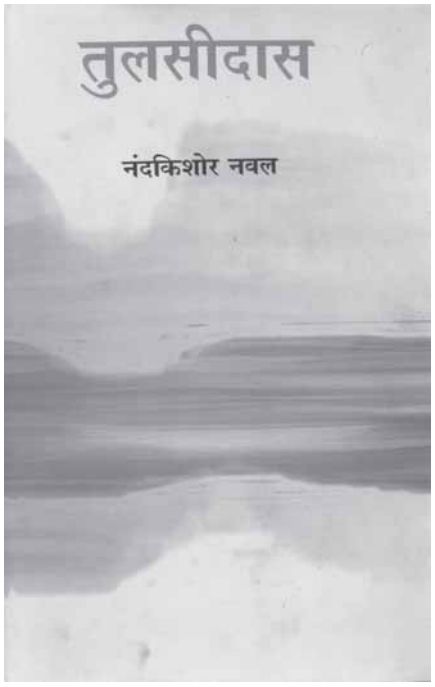

रामचरितमानस और विनयपत्रिका पर सविस्तार विवेचन है। पहले खंड 'अन्य काव्य' के अंतर्गत तुलसीदास की शेष 10 रचनाओं—रामललानहछू, रामाज्ञाप्रश्न, जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, गीतावली, कृष्णगीतावली, बरवैरामायण, दोहावली, कवितावली और हनुमानबाहुक को वर्णन-विश्लेषण के दायरे में समेटते हुए इस खंड के अंतर्गत क्रमवार उपर्युक्त कृतियों पर प्रकाश डाला गया है। उनकी कथाभूमि व भावभूमि को स्पष्ट किया गया है। पुनः लेखक की दृष्टि में उन कृतियों के जो स्वाभाविक, मर्मस्पर्शी तथा हृदयग्राही स्थल हैं, उनका चित्रण किया गया है। ऐसे में महाकवि तुलसीदास के कवि-रूप की ऊंचाई और उनकी कविता की गहराई की अच्छी झलक मिलती है। यह पते की बात है कि गो. तुलसीदास ने कतिपय वैसे प्रसंगों को, जो वे रामचरितमानस में विभिन्न कारणों से चित्रित नहीं कर पाए थे, जो प्रसंग उनके मानदंड और उनकी मर्यादावादी दृष्टि के अनुकूल नहीं थे, उन्हें संकेतात्मक रूप में अन्य काव्यों में समाहित किया है, यथा : शंबूकवध, सीतावनवास, कुछ शृंगारिक प्रसंग। लेकिन, ऐसा करते हुए भी वे कुछ अन्य कवियों की भांति मर्यादा से च्युत नहीं हुए हैं। इस संदर्भ में प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने बहुत अच्छी प्रतिक्रिया व्यक्त की है : ''कालिदास और तुलसीदास, दोनों महान् यथार्थवादी कवि थे, लेकिन दोनों की जीवन-दृष्टि और काव्य-दृष्टि में फर्क था। भारतीय संस्कृति और सौंदर्य का कवि होते हुए भी कालिदास की दृष्टि जहां मुक्त थी, वहां भारतीय मध्ययुग के लोकनायक होते हुए भी तुलसीदास की दृष्टि संयत थी। वे मूलतः भक्त थे, इसलिए अपने परवर्ती काव्य में उन्होंने शृंगार का असंयत वर्णन कहीं

नहीं किया। पार्वतीमंगल भी भक्ति-भाव से रचित काव्य ही है (पृ. 26)।'' इस उद्धरण के बाद लेखक ने सोदाहरण विस्तार से दोनों महाकवियों के दृष्टि-भेद का उल्लेख 'कुमारसंभव' और 'पार्वतीमंगल' के आधार पर किया है। संबंधित खंड में लेखक ने सर्वत्र बड़ी बेबाकी से तुलसीदास के कवि-व्यक्तित्व की सामर्थ्य और सीमा का रेखांकन किया है। जहां उनकी सृजनात्मक संवेदना निखरे रूप में आई है, उसकी प्रशंसा की है और जहां जो रचनाएं व उनके प्रसंग बुद्धिप्रसूत मात्र हैं, उस पर समीक्षात्मक टिप्पणी भी की है। बानगी के तौर पर लेखक के ये वाक्य देखे जा सकते हैं—'' 'रामललानहछू' में कहीं भी एक महाकवि के आगमन की पदचाप नहीं सुनाई पड़ती।' (पृ. 17) '' 'रामाज्ञाप्रश्न' से तुलसीदास की काव्यक्षमता की परिपक्वता के दर्शन होने लगते हैं।'' (पृ. 18) ''ऐसा लगता है कि तुलसीदास उस समय प्रचलित सभी काव्य-रूपों और छंदों में राम-कथा कहना चाहते थे, लेकिन मानस को छोड़कर किसी कृति को, वह दोहों में रचित हो, या पदों में, या कवित्त-सवैयों में, वे मानस की तरह पूर्णता नहीं प्रदान कर सके। निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैसे भी हो, मानस को उन्होंने सुव्यवस्था प्रदान की है, लेकिन बाकी ग्रंथों के छंद वे अव्यवस्थित रूप में रचते रहे। ताज्जुब नहीं कि तुलसी साहित्य के विद्वान् उनके कई ग्रंथों को संग्रह-ग्रंथ कहते हैं। गीतावली उन्हीं में से एक है। इस कृति के अवलोकन के बाद मुझ जैसा पाठक इस नतीजे पर पहुंचता है कि यह तुलसीदास की बुद्धिप्रसूत रचना है। उन्होंने इसकी शब्द-योजना, छंद-योजना और तुक-योजना में अपनी असाधारण क्षमता का प्रदर्शन किया है, लेकिन पदों में उस शक्ति का अभाव है, जिसे संस्कृत के आचार्यों ने प्रतिभा का पर्याय माना है।'' (पृ. 31) इस प्रकार 'अन्य काव्य' में वर्णित प्रायः सभी पुस्तकों पर लेखक ने तुलसीदास की कविताई की शक्ति और सीमा तथा संवेदना और बौद्धिकता का यथातथ्य वर्णन किया है, साथ ही लेखक को उन कृतियों में जो मार्मिक प्रसंग जान पड़े हैं, उसका उसमें डूबकर बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। 'कवितावली' के

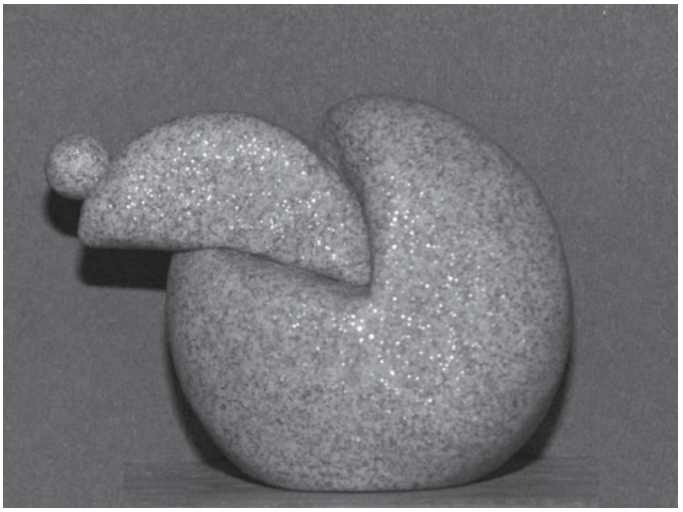

कुछ मार्मिक प्रसंगों के काव्य-सौंदर्य के उद्घाटन के बाद तुलसीदास के जीवन, समय, लोक की सामान्य अवस्था से संबंधित जो प्रसंग हैं, उनकी व्याख्या तो मन को मुग्ध करने वाली है। तुलसीदास के अक्खड़पन, आत्मालोचन, स्वाभिमान, रामभक्ति, रोगग्रस्तता, युग-सत्य को परखने की क्षमता का भरपूर दिग्दर्शन इस खंड के अंत होते-होते पाठकों को हो जाता है।

पुस्तक का दूसरा खंड 'रामचरितमानस' पर केंद्रित है। जिस प्रकार तुलसीदास पूरे दम-खम के साथ रामचरितमानस की रचना में रत हुए थे, लगता है कि प्रो. नवल भी कुछ ऐसी ही तैयारी के साथ इस पुस्तक-पयोधि में प्रविष्ट हुए हैं। इस खंड की शुरुआत इतने प्रभावकारी ढंग से हुई है कि पाठक वर्ग पूरी तरह तुलसीदास के 'तुलसीदासत्व' और रामचरितमानस के 'विराटत्व' की गिरफ्त में आए बिना नहीं रहता। तुलसीदास के विषय में बनी अनेक भ्रांतियों, भ्रमपूर्ण आचरणों और उलझनों को लेखक ने इस कदर सुलझाया है कि मन बाग-बाग हो जाता है (पृ. 64-66)। ...आगे लेखक ने रामचरितमानस के पाठ, प्रारूप और प्रस्तावना पर गंभीर विमर्श किया है। इसी संदर्भ में उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इस उद्धरण का भी उल्लेख किया है, ''जिस धूमधाम के साथ इस ग्रंथ की प्रस्तावना उठती है, उसे देखते ही इसके महत्त्व का आभास मिलने लगता है। ऐसे दृष्टि-विस्तार के साथ जगत् की ऐसी गंभीर समीक्षा के साथ और किसी ग्रंथ की प्रस्तावना नहीं लिखी गई।'' (पृ. 70) इस उद्धरण के बाद लेखक ने भी अपनी मंशा जाहिर कर दी है कि, ''मैं, इस लेख में सर्वत्र उन्हीं स्थलों को उद्धृत करूंगा, जो मुझे विशेष प्रिय हैं और जिनमें मैं पाठकों की भी भागीदारी चाहता हूं।'' (पृ. 70) और इसके बाद एक-एक करके रामचरितमानस के मार्मिक प्रसंग उन्मीलित होते जाते हैं एवं रोचकता के रज्जु-पाश में पाठक-समुदाय को बांधते जाते हैं। रामचरितमानस के काव्य-सौंदर्य पर जिस गंभीरता और समग्रता में प्रो. नवल ने यहां विचार किया है अगर उन पर अलग-अलग रूप से मैं विचार करने लग जाऊं तो एक स्वतंत्र पुस्तक ही प्रकट हो जाएगी। लिहाजा, यह कहकर ही आगे बढ़ जाना मुझे श्रेयस्कर लगता है कि यह लेख वाकई एक अद्भुत लेख है और इस हकीकत के दीदार करने हैं और लुत्फ उठाने हैं तो पाठकगण स्वयं इससे मुखातिब हों।

...पुस्तक का तीसरा खंड 'विनयपत्रिका' पर आधारित है। इसकी शुरुआत में लेखक का यह वक्तव्य सामने आता है—''गीतावली और कृष्ण गीतावली की तुलना में इस कृति की विशेषता यह है कि वे जहां बुद्धिप्रसूत हैं, इसमें एक गहरी हार्दिकता है। इसमें तुलसीदास का कवित्व अत्यधिक परिपक्व रूप में भी अभिव्यक्त हुआ है। शब्द मोती की तरह हैं और वाक्य मोती की लड़ियों की तरह। अकारण नहीं कि तुलसी-साहित्य के कुछ विद्वान् विनयपत्रिका को ही उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं। एक पाठक के नाते मैं जिस नतीजे पर पहुंचा हूं, वह यह कि तुलसीदास की कवि-प्रतिभा मूलतः प्रबंधात्मक थी, जो रामचरितमानस में ही चरमोत्कर्ष के बिंदु पर पहुंचती है। विनयपत्रिका आत्मनिवेदनात्मक पदों का संग्रह है, जिसकी सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उसमें पुनरावृत्ति बहुत ज्यादा है। इसके अंतिम पदों में दो छंदों के मेल से बने ऐसे छंदों का प्रयोग हुआ है, जो पढ़ने में सुकर नहीं हैं। इसे भी एक त्रुटि ही मानना चाहिए। विनयपत्रिका का जो संस्करण सुलभ है, उसके दो खंड हैं स्तुति-खंड और विनय-खंड। स्तुति-खंड में अवधी मिश्रित सरल ब्रजभाषा में रचे गए पद भी हैं और संस्कृतनिष्ठ शब्दावली में रचे गए स्तोत्र भी। इन स्तोत्रों में तुलसीदास का विराट् कवित्व प्रकट हुआ है, जो हिंदी कवियों के लिए एक चुनौती भी है।'' (पृ.

129-30) निस्संदेह, विनयपत्रिका के विषय में उपर्युक्त विश्लेषण आईने की तरह साफ नज़र आता है, जिसकी मार्फत उक्त पुस्तक को बेहतरीन ढंग से समझा-बूझा जा सकता है। इस विवेचन के बाद लेखक ने एक-एक करके कवित्व व काव्य-गुण से भरपूर लोकाधारित तथा शास्त्रसंपृक्त प्रसंगों की मन मोहने वाली बेजोड़ व्याख्या की है और इस महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष के साथ इस खंड का समापन किया है, ''उन्होंने लोकभाषा के शब्दों की ताकत को पहचाना था और अनेक बार तत्सम शब्दों को भी अपना अभिजात रूप छोड़कर तद्भव शब्दों की पंगत में बैठने को बाध्य किया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी तद्भव प्रधान भाषा है, जिसे विनयपत्रिका में तुलसीदास ने भांप लिया था।'' (पृ. 152)

...समीक्ष्य पुस्तक के उपर्युक्त तीनों खंड की कुछ झलक पाने के बाद समवेत रूप से कुछ कहना यथोचित जान पड़ता है। पहली बात, लेखक के द्वारा तुलसी-काव्य में प्रयुक्त अनेक शब्दों के अर्थ और मर्म ग्रहण करने की और पाठकों को भी ग्रहण कराने की। लेखक ने संपूर्ण पुस्तक में शास्त्रीय, लोकप्रसूत, अरबी-फारसी के शब्दों का ऐसा अर्थीकरण और व्याख्या की है कि तुलसी-काव्य का सौंदर्य और उसकी छटा बार-बार द्विगुणित हो जाती है। दूसरी बात, किसी पद का विश्लेषण करते समय लेखक ने कुछ ऐसे वाक्यों के प्रयोग किए हैं, जो स्वयं सौंदर्य से सिक्त और रसोद्बुद्ध करने जैसे हैं। बतौर बानगी ये वाक्यांश देखे जा सकते हैं—1. 'रामाज्ञाप्रश्न' के कुछ दोहों को उदाहृत करते हुए लेखक की यह टिप्पणी गौरतलब है, ''सभी दोहों में 'स' की बहार है, जिससे फसलों से वायु के गुजरने से पैदा होने वाली सरसराहट का बोध होता है।'' (पृ. 19) 2. एक जगह कुछ चौपाइयों के उद्धरण के बाद लेखक का यह वक्तव्य सामने आता है, ''मैं अंतिम चौपाई की पहली अर्धाली की ओर विशेष रूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं, जिसमें अनुनासिकता के कारण तुलसीदास की भाषा घुंघरू की तरह झनकती है। हम आगे देखेंगे कि कभी उनकी भाषा ठनके की तरह ठनकती भी है। ज्यादा स्थलों पर वह कलकल करती शांत गति से बहती नदी में मिलती है। उसमें कभी भंवर अवश्य बनते हैं, जिन पर तुलसीदास के कवित्व को जानने के लिए ध्यान देना जरूरी होता है।'' (पृ. 72) 3. 'विनयपत्रिका' के एक पद और उसके कुछ शब्दों के अर्थ पर रोशनी बिखेरने के बाद लेखक ने इस उक्ति के द्वारा पाठकों के मन का रंजन किया है, ''इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट हो जाने पर इस पद की पंखुड़ियां कमल की तरह खुल जाती हैं।'' (पृ. 140)

तीसरी बात, लेखक ने समीक्ष्य पुस्तक में अनेक स्थानों पर छंद की दृष्टि से भी तुलसी-काव्य के सौंदर्य का उद्घाटन किया है। छंदों के व्याकरण का सूक्ष्म विश्लेषण निश्चय ही लेखक को छंदशास्त्री-रूप में सिद्ध करता दीखता है। किसी-किसी छंद के किसी अंश-विशेष के 'कवित्व' को अलग से रेखांकित करना, जो उस पद का हृदय-स्थल है, यह लेखक की पैनी दृष्टि और कविता की बारीकी की परख करने वाली मर्मभेदक दृष्टि का परिचायक है। तुलसीदास के काव्य की यह एक बड़ी खासियत है कि किसी प्रसंग की चर्चा करते-करते वे बीच में ऐसे शास्त्रीय अथवा लोकप्रसूत शब्दों का प्रयोग कर जाते हैं, जो पाठक को झुमा देते हैं। लेखक ने तुलसीदास की इस झुमा देने वाली कला का दिग्दर्शन पाठकों को बखूबी कराया है।

चौथी बात, आलोचक में यह विशेषता होनी चाहिए कि रचनाकार ने जिस भाव-दशा और रस-दशा में डूबकर वर्णन किया है, वह उसको सम्यक् रूप से पकड़े तथा तदनुरूप उसका वर्णन-विश्लेषण करे। मेरी नज़र में उसी आलोचक की आलोचना सुशृंखल और सारगर्भित होती है, जिसकी दृष्टि पहले से ही साफ होती है। मूलपाठ (Text) के किस-किस प्रसंग पर लिखना है और क्या-क्या लिखना है। लेखन की भूमि पर उतरने के पूर्व ही पूरे 'प्रारूप' को स्पष्ट कर लेना, 'टेक्स्ट' को छान मारना और यह निर्धारित कर लेना कि किस कोने से कितनी दूर तक गेंद को उछालना है।...उक्त खूबियां समीक्ष्य पुस्तक में देखी जा सकती हैं।

पांचवीं बात, जो अलग से रेखांकित करने योग्य है, जो पुस्तक में चार चांद लगानेवाली है, जो पुस्तक को पग-पग पर रोचक पाठ में परिवर्तित करते जाने वाली है, वह है तुलसीदास और उनकी कृतियों से संबंधित बहुत-से लेखकों की उक्तियों और उनसे जुड़े प्रसंग। समीक्ष्य पुस्तक में प्रो. नवल ने उन प्रसंगों को बीच-बीच में इस कौशल से 'जड़ा' है कि कथा-रस की कई धाराएं स्वतः फूटती नजर आती हैं। यहां लेखक की स्मृति और उन प्रसंगों को यथास्थान 'फिट' कर देने के फन की जितनी दाद दी जाए, वह नाकाफी है। उन अनेक प्रसंगों में से केवल दो प्रसंगों का उल्लेख यहां वाजिब जान पड़ता है— 1. ''नागार्जुन के जीवन के आखिरी दौर की बात है। वे पटने में हिंदी साहित्य सम्मेलन के भवन के एक कक्ष में ठहरे हुए थे। उन्होंने मानस चतुश्शती के अवसर पर तुलसीदास पर एक लेख लिखा था, जिसमें कहा था कि हिंदी-क्षेत्र के पिछड़ेपन का कारण रामचरित-मानस है। उन्होंने सुझाव दिया था कि इस वर्ष मानस का एक संपादित संस्करण प्रकाशित किया जाए, जिसमें शूद्र और स्त्री-संबंधी कटूक्तियों को निकाल दिया जाए। उन्हीं नागार्जुन के बिस्तर पर रखी हुई मैंने कवितावली की प्रति देखी, तो उनसे पूछा, 'बाबा, आपको कवितावली पसंद है क्या?' उन्होंने उत्तर दिया कि उसके उत्तरकांड में तुलसीदास ने अपने बारे में जो कहा है, वह मुझे पसंद है। बाद में उन्होंने उन पर मैथिली में अपनी यह अंतिम कविता लिखी : ''तुलसी बाबा साथ रहइं त/पार करब कविता बइतरनी/तुलसी बाबा साथ रहइं त/नहि बिसरब हम/शब्द-सुमिरनी!'' (पृ. 48)

2. ''मैंने इस लेख को यथासंभव शास्त्रीय होने से बचाया है, क्योंकि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की एक बात मुझे सदा स्मरण रहती है। पटना विश्वविद्यालय (हिंदी-विभाग) के एक प्राध्यापक ने डी.लिट्. की उपाधि के लिए विश्वविद्यालय में अपना शोध-प्रबंध जमा किया था, जिसका विषय था, 'रामचरितमानस में अलंकार योजना'। आचार्य द्विवेदी भी एक परीक्षक थे और अनुकूल प्रतिवेदन भेजने के बाद वे मौखिकी में भी आए। उन्होंने उसमें उस प्राध्यापक को उत्तीर्ण भी कर दिया, पर बाद में अपने व्याख्यान में कहा कि रामचरित-मानस में अलंकार ढूंढ़ना वैसा ही है, जैसा कल्पवृक्ष से दो किलो बैंगन मांगना।'' (पृ. 128) ...इसके अतिरिक्त आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', मुक्तिबोध, अमृतलाल नागर,

हरिशंकर परसाई, प्रो. नलिनविलोचन शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, रघुवीर सहाय, शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', पं. केशव प्रसाद मिश्र, डॉ. प्रभाकर माचवे, डॉ. नामवर सिंह आदि का विभिन्न संदर्भों में उल्लेख पुस्तक की रोचकता में अतिशय वृद्धि करता है।

छठी और अंतिम बात, अगर समीक्ष्य पुस्तक में उल्लिखित कुछ खटकने वाली बातों का यहां जिक्र न किया जाए तो यह दीर्घकाय समीक्षा अधूरी ही मानी जाएगी। इस संदर्भ में निम्नलिखित बातें गौर फरमाने लायक हैं—

1. 'प्रस्तावना' (पृ. 9) में यह कहकर, ''उद्धरणबहुल आलोचना अच्छी नहीं होती, प्रस्तुत पुस्तक में तुलसीदास के काव्य से अत्यधिक पंक्तियां उद्धृत की गई हैं...''—प्रो. नवल ने पाठकीय प्रतिक्रिया से प्रतिरक्षा करने के उपाय ढूंढ़ने की कोशिश की है। बावजूद इसके, इस बिंदु से पुस्तक की यह दुखती रग ही कही जाएगी, क्योंकि पुस्तक का अधिकांश उद्धरणों से अंटा पड़ा है।

2. समीक्ष्य पुस्तक के दूसरे खंड 'रामचरितमानस' (पृ. 70) में लेखक की यह उक्ति असमीचीन-सी है—''ऐसा लगता है कि तुलसीदास के भीतर लोकभाषा अवधी में रामकथा कहने को लेकर एक अपराध-भाव था, जिसका पता उनकी अनेक उक्तियों से चलता है...।'' मेरी समझ में यहां प्रयुक्त 'अपराध-भाव' शब्द असंगत प्रयोग है। उनके मन में अपराध-भाव (crime and confession) नहीं था, बल्कि दुविधा और आशंका (राम सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहि अंदेसा॥) का भाव था। काव्यशास्त्रीय आलोक में कहें तो उन्होंने इस पूरे प्रसंग में निषेध-मुख व ध्वनिप्रधान शैली में अपनी अप्रतिम काव्य-योग्यता एवं विवेकशीलता की ही अभिव्यक्ति की है। काव्यानंद प्राप्त करने-कराने के वे जो नया निकष रच रहे थे तथा कविताई के नए शास्त्र और व्याकरण गढ़ रहे थे, उसकी 'अभूतपूर्व आहट' सुनाई पड़ती है, 'अपराध-भाव' नहीं!

3. समीक्ष्य पुस्तक में दो स्थानों पर असाधु प्रस्तुति दिखाई देती है, ''कुछ लोग 'कामिहि नारि पिआरी जिमि' पर चौंकते हैं, पर उन्हें याद करना चाहिए कि आदर्श प्रेम का उदाहरण आचार्यों ने परकीया-प्रेम को बतलाया है। इसके अलावा यह कवि का अपना अनुभव भी था।'' (पृ. 125) ''अमृतलाल नागर ने अपने उपन्यास 'मानस का हंस' में उनका संबंध एक वेश्या से बतलाया है। यह निरी कल्पना नहीं है, क्योंकि इसकी पुष्टि संपूर्ण विनयपत्रिका से होती है। तुलसीदास आजन्म एक अपराध-भाव से ग्रस्त रहे। क्यों? इसलिए कि काम के जिस जाल में वे फंसे थे, उससे निकलना उनके लिए दुष्कर था। स्वभावतः उनकी आत्मस्वीकृति में एक बल है, जो हमारे ऊपर से नहीं गुजर जाती, बल्कि हमें भीतर से दूर तक प्रभावित करती है।'' (पृ. 141)

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से यह आशय निकलता है कि तुलसीदास ने पर-नारी से प्रेम किया था और उनका संबंध एक वेश्या (उपन्यास में उसका नाम मोहिनी है) से भी था। अमृतलाल नागर ने भले इसको कल्पनाप्रसूत माना है, लेकिन प्रो. नवल इसे 'निरी कल्पना नहीं' मानते हैं।...मेरी नजर में ऐसे अप्रामाणिक, कल्पनाधारित और उलझनदार (complicated) प्रसंग में पड़कर प्रो. नवल इस प्रकरण को सुलझाने के बजाय, उसमें उलझ गए हैं। जिस अमृतलाल नागर ने 'मानस का हंस' के 'आमुख' में यह स्वीकार किया है कि ''गोसाईंजी की सही जीवन-कथा नहीं मिलती...उन पर लिखी गईं जीवनियां अप्रामाणिक हैं...उनके जीवन चरित सच से अधिक झूठ से जड़े हुए हैं।'' और आगे नागरजी ने यह भी इशारा किया है कि, ''कतिपय पंक्तियों के आधार पर मैं नवयुवक तुलसी और काशी की एक वेश्या का असफल प्रेम चित्रित कर रहा हूं...मुझे लगता है कि तुलसी ने काम ही से जूझ-जूझकर राम बनाया है।''

ध्यातव्य है कि अमृतलाल नागर 'मानस का हंस' के रूप में एक उपन्यास लिख रहे थे, तुलसीदास की जीवनी नहीं। फिर वे इस उपन्यास में तुलसीदास को एक सहज मानव (सामान्य पात्र) के रूप में चित्रित कर रहे थे। कदाचित् उनको यह छूट थी कि वे कल्पना के आकाश में अपनी औपन्यासिक कृति को विहार कराएं। हालांकि, प्रकारांतर से उक्त प्रसंग के माध्यम से उन्होंने तुलसीदास के चरित्र का उदात्तीकरण (Sublimation) ही किया है। काम से लड़ते हुए व उसके मोह-पाश को काटते हुए उन्होंने अंततः तुलसी को राम और रामभक्ति की प्राप्ति तक की यात्रा कराई है। तुलसीदास के कामाकर्षण-रामाकर्षण के द्वंद्व का वर्णन करके नागरजी ने इस उपन्यास में एक बढ़िया 'कॉन्ट्रास्ट' (contrast) खड़ा किया है। गौरतलब है कि अपने उक्त वक्तव्य में प्रो. नवल परकीया प्रेम की दृष्टि से जिस तुलसीदास को अनुभवशील बताते हैं, इस संदर्भ में नागरजी ने तुलसीदास के मुख से यह कहलवाया है, ''सीताराम का चाकर परकीया प्रेम का पुजारी कदापि नहीं हो सकता था।'' (मानस का हंस, पृ. 207) प्रो. नवल के द्वारा तुलसीदास को परकीया प्रेम का अनुभवी बताना और मोहिनी नामक वेश्या से संबंध (क्या शारीरिक संबंध?) तक स्थापित करना, यह भी इस आलोचनात्मक पुस्तक में असंगत जान पड़ता है। उक्त प्रसंग से संबंधित तुलसीदास के जो भी पद दिखाई देते हैं, उनमें कामाभिव्यक्ति कम, राम-भक्ति की अतिशय तीव्रता ज्यादा है। जैसे-जैसे तुलसी को राम 'नीके' लगते गए हैं, वैसे-वैसे 'जगत्' और 'काम' (अगर मानव होने के नाते उनके शरीर के किसी कोने में है) 'फीके' पड़ते गए हैं। तुलसीदास के संबंध में इसी अंतर स्वर को पकड़ने की जरूरत है। उन्हें परनारी-प्रेमी और वेश्यागामी दिखाने की नहीं! तुलसी के माता-पिता कौन थे? जन्म-स्थान कहां था? विवाहित थे अथवा वैरागी? आदि बातों का जब आज तक कोई प्रामाणिक तथ्य और आधार नहीं मिला है, तब नागरजी की तरह ही कतिपय पंक्तियों के आधार पर उन्हें परनारी-प्रेमी और वेश्यागामी का आधार खोजना और उस पर कल्पना का महल खड़ा करना यथोचित नहीं जान पड़ता है।

...अंत में, बतौर निष्कर्ष मैं यही कहना चाहूंगा कि प्रो. नंदकिशोर नवलजी ने निस्संदेह महाकवि तुलसीदास के काव्य-सौंदर्य की अद्भुत अभिव्यक्ति की है, पर 'दोषरहित दूषण सहित'!

तुलसीदास/नंदकिशोर नवल/राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 200

एसोसिएट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर हिंदी-विभाग, कॉलेज ऑफ कॉमर्स, पटना-20 (मगध विश्वविद्यालय), मो. 9470466179

स्त्री-विमर्श की बाढ़ में निथरे पानी की तरह आलोचना

सूरज पालीवाल

ऐसे समय में जब पत्र-पत्रिकाओं तथा सभा-गोष्ठियों के अलावा हिंदी विभागों में थोक के भाव स्त्री-विमर्श पर शोध-कार्य किए जा रहे हों, तब बहुत ठहरकर, अपने पारिवारिक और मित्रवत् संबंधों को किनारे रखकर अपनी ही समवयस्क और लगभग मित्र लेखिकाओं पर खरेपन के साथ लिखना दूभर कार्य है। यह इसलिए और कठिन है कि लिखने से पहले जब यह ठान लिया गया हो कि 'रिश्तों की प्रकृति ने मेरी पाठकीय समझ में कभी हस्तक्षेप नहीं किया। मैंने बराबर अपेक्षित दूरी बनाए रखकर तीनों को पढ़ा—आम पाठक की हैसियत से। आपसदारी कम होती तो शायद उन पर कलम ज्यादा चलाई होती। ऐसा नहीं है कि कलम चली ही नहीं, पर जब चली तो दोस्ती के मुलाहिजे बलाए ताक रखकर, अपर पक्ष की नाराजगी का खतरा मोल लेकर। इस हद तक कि कभी यह जानने की कोशिश भी नहीं की कि मेरी प्रतिक्रिया पर उधर क्या प्रतिक्रिया हुई, पर इस बात का संतोष है और गर्व भी कि साहित्यिक मसलों ने कभी हमारी दोस्ती में दरार पैदा नहीं की।' यह संतोष और गर्व तब और बढ़ जाता है, जब मालूम होता है कि निर्मलाजी बिना किसी संकोच के तीनों लेखिकाओं के बारे में अपनी राय प्रगट करती हुई कहती हैं, 'लेखक की दौड़ निश्चय ही इन सीमाओं से परे जानी चाहिए। कथन की संप्रेषणीयता ही उसका एकमात्र औचित्य नहीं। यहीं कृष्णा सोबती मन्नू भंडारी और उषा प्रियंवदा से अलग हो जाती हैं।' तथा 'ऐसी चुनौतियां उषा प्रियंवदा और मन्नू भंडारी की तुलना में कृष्णा सोबती ने कहीं अधिक स्वीकार की हैं। वे देश-काल दोनों दृष्टियों से सामान्येतर या विरल क्षेत्रों में पैठने, उनसे रूबरू होकर उन्हें पुनर्जीवित करने का प्रयत्न औरों की तुलना में कहीं ज्यादा करती हैं।' यह केवल मूल्यांकन ही नहीं, बल्कि निर्णय है, जिससे चालाक और दुनियादार लोग बचते रहे हैं, लेकिन निर्मलाजी अपनी राय पर दृढ़ हैं, इसलिए वे अपनी ही मित्र लेखिकाओं के बारे में स्पष्ट कहने में कोई संकोच नहीं करतीं। उनकी यह राय तब और ज्यादा वजनी हो जाती है, जब वे यह स्पष्ट लिखती हैं, 'तीनों ही मेरी हमसफर रही हैं। कमोबेश राजदार भी। तीनों उम्र में मुझसे बड़ी हैं। मन्नू भंडारी और उषा प्रियंवदा कुछ कम, कृष्णा सोबती कुछ ज्यादा। इसलिए उनके प्रति आदरमिश्रित स्नेह का भाव लगातार बना रहा है। जितनी छूट और नोक-झोंक मन्नू और उषा के साथ अब भी होती है, उसकी तुलना में कृष्णाजी से न जाने कहां से एक झीनी-सी परदेदारी अनायास पैदा हो जाती है और हम आर-पार से बात करने लगते हैं।'

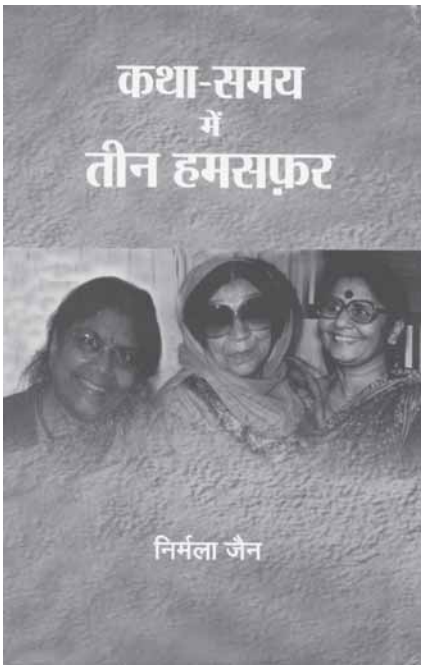

यह मानवीय संबंधों का आत्मीय रूप है, जो अधिकतर साफ-साफ कहने से रोकता है, लेकिन निर्मलाजी के यहां ऐसा नहीं है। यह तीनों ही नहीं, बल्कि चारों की आत्मिक दुनिया का अंतरंग रूप है, जो इस पुस्तक में सर्वत्र देखने-पढ़ने को मिलता है। यह मात्र आलोचना पुस्तक ही नहीं है, बल्कि एक कसौटी है, जो संबंधों की लक्ष्मण रेखा के पार जाकर आलोचना के गहन और गह्वर सूत्र तलाशती है। वहां परखने के लिए रचना होती है, सिर्फ रचना। संबंधों को निभाने या बचाए रखने का माध्यम न रचना कभी रही और न हो सकती है, जिन आलोचकों ने रचना से अधिक मित्र आलोचक को देखा, वहां आलोचना कमजोर भी होती है और खराब भी। आलोचना कर्म तलवार की धार पर चलने की तरह है, जो इसे साध ले जाते हैं, वही जिंदा भी रहते हैं।

इस पुस्तक पर विचार करते समय यह विचार मन में आता है कि निर्मलाजी ने यह पुस्तक क्यों लिखी? जबकि इस बीच न तो तीनों में से किसी की महत्त्वपूर्ण रचना आई है और न ऐसी कोई घटना ही घटित हुई है, जो पुस्तक लिखने का माध्यम बने। फिर वे क्या कारण रहे, जो पचास साल की दोस्ती को दांव पर लगाकर पूरी पुस्तक लिखवा ले गए। तीनों कथाकारों को फिर से पढ़ने से पहले निर्मलाजी ने स्वयं इस बात पर विचार किया और मन में दो सवाल आए 'पहला—कि इनके लेखन में ऐसी क्या खासियत है, जो उन्हें अप्रासंगिक नहीं होने देती, परवर्तियों की लाख मनौतियों के बावजूद। दूसरा यह कि क्या महिला कलम की कोई पहचान इन्हें समकालीन पुरुष-लेखकों से अलग और विशिष्ट बनाती है। साथ ही यह भी कि क्या लेखिका होने के नाते इनमें भाषिक या सरोकार संबंधी समानताएं रेखांकित की जा सकती हैं? कुछ ऐसा, जिसे महिला

लेखन के नाम पर अलग वर्गीकृत किया जा सके?' ये महत्त्वपूर्ण सवाल हैं, जिनके उत्तर निर्मलाजी ने पहले उनके लेखन में ढूंढ़े और फिर उन्हें अपनी तरह से रेखांकित किया। इन सवलों के जवाब ढूंढ़ते समय उनके मन में यह भी रहा कि कहीं उन्हें स्त्री भाव या स्त्री आलोचक के रूप में न पहचाना जाए। कथा-साहित्य में जिस प्रकार तीन लेखिकाएं अपनी तरह से पहचान बना रही थीं, ठीक उसी तरह आलोचना में भी निर्मलाजी अपनी तरह से अलग पहचान बना रही थीं। यही कारण है कि नगेंद्र, नामवरसिंह और रामविलास शर्मा के साथ उनकी पहचान बनी और यह पहचान स्त्री आलोचक की तो कतई नहीं बनीं। यदि प्रकाशकों की सूची देखी जाए तो उनमें ज्यादातर ग्रंथ हिंदी विभागों के आचार्यों तथा आचार्यों के कृपापात्र छात्रों के ही अधिक होंगे, जो अपनी कीर्ति को फैलाने के लिए निरंतर लिख और छप रहे थे। यह बात दीगर है कि उनमें कितने ग्रंथ ऐसे होंगे, जो आज भी अपनी प्रासंगिकता बनाए हुए हैं। कहना न होगा कि प्रासंगिकता उन्हीं ग्रंथों की रहती है, जिनमें मौलिक और महत्त्वपूर्ण ढंग से कुछ कहा गया हो। निर्मला जैन ने हिंदी आलोचना में पुरुषवादी वर्चस्व को न केवल चुनौती दी, बल्कि उसे तोड़ा भी। विगत पचास वर्षों में वे अकेली ऐसी महिला आलोचक हैं, जो महिलावादी छाप से बचकर निरंतर आलोचना कर्म में रत हैं। इस पुस्तक के प्रेरक और अपने पुरातन मित्र राजेंद्र यादव की प्रेरणा से उन्होंने अपनी समकालीन महिला कथाकारों पर लिखना इसलिए स्वीकार किया कि उनकी समकालीन तीनों महिला कथाकारों के यहां भी कोई स्त्रीवादी झंडा नहीं है, यह बात दीगर है कि उनका अधिकांश लेखन स्त्री केंद्रित है। स्त्री समस्याओं पर लिखना और स्त्रीवादी तेवर अपनाए रखना दोनों भिन्न स्थितियां हैं। यही बिंदु उन्हें आज के स्त्री विमर्शवादी लेखन से अलग करता है। पचास वर्ष पहले के स्त्री-लेखन और आज के स्त्री-लेखन में अंतर स्पष्ट है। उस समय की स्त्रियों की समस्याएं, उनका अपना परिवेश, तेजी से बदलते समाज में स्त्री-पुरुष संबंध आदि उनके लेखन का मुख्य विषय हुआ करते थे। ये विषय उनके परिवार या आसपास के थे, इसलिए अनुभूत सत्य रचनाओं में अपने खरेपन के साथ आया है। यही कारण है कि 'मित्रो मरजानी', 'दिलोदानिश', 'समय सरगम', 'आपका बंटी', 'यही सच है', 'पचपन खंभे लाल दीवार', 'वापसी' तथा 'मछलियां' जैसी बेहतरीन रचनाएं उस समय इन तीनों कथाकारों ने दीं, जो आज भी स्त्री-लेखन के सामने चुनौती है। छठे दशक में जब ये सब लिख रही थीं, तब उनके वे तीनों पुरुष महारथी भी लिख रहे थे, जो 'नई कहानी' आंदोलन के झंडाबरदार थे, पर अपने आरंभिक दौर में वे ऐसा कुछ महत्त्वपूर्ण रच पाने में असमर्थ रहे, जिसकी आज चर्चा की जाए। इसलिए निर्मलाजी लिखती हैं, 'यह कहना ज्यादा सही होगा कि इनकी आरंभिक रचनाएं अपने पुरुष हमराहियों की तुलना में बेहतर ही थीं। उनमें लगभग वे सारी विशेषताएं मौजूद थीं, जिनके आधार पर नई कहानी के पुरोधा अपनी अलग पहचान का डंका पीट रहे थे और पूर्ववर्ती कहानियों को तरह-तरह के तर्कों के हवाले से खारिज करते जा रहे थे।'

'नई कहानी' के तीनों झंडाबरदारों में एक राजेंद्र यादव अभी जीवित हैं। जाहिर है कि यह पुस्तक उन्होंने जरूर पढ़ी होगी। निर्मला जैन की यह टिप्पणी महिला कथाकारों को बड़ा बनाती है और यह बताती है कि जो पुरुष कथाकार उन्हें महिला मानकर उपेक्षित कर रहे थे, वे उस समय की रचनाओं में स्वयं छोटे थे। वे जिन अनाम पत्रिकाओं में नौसिखिया कहानियां लिख रहे थे, उनका कोई महत्त्व न तब था और न आज है। निर्मला जैन की इस स्थापना का विरोध राजेंद्र यादव कर सकते हैं, लेकिन निर्मलाजी ने उदाहरणों के साथ अपनी बात कही है, इसलिए विरोध की कोई गुंजाइश नजर नहीं आती। तीनों की यह विशेषता है कि इन्होंने अपनी आरंभिक यात्रा के दौरान किसी प्रकार की कोई मंत्रणा या योजनाबद्ध ढंग से उखाड़-पछाड़ नहीं की, बल्कि चुपचाप अपनी रचनात्मक ईमानदारी के बल पर अच्छी कहानियां लिखती रहीं। यह गुण विरल है, इससे प्रसिद्धि बहुत बाद में जाकर मिलती है, लेकिन जब मिलती है, तब स्थायी होती है। स्त्री-विमर्शवादी कथाकारों ने स्त्री-विमर्श को बैसाखी के रूप में इस्तेमाल किया है, उसे स्त्री समस्याओं से भटकाने का प्रयास किया है। यौन मुक्ति या स्त्री स्वतंत्रता कोई हवाई चीज नहीं है और न व्यक्तिगत प्रसिद्धि की सीढ़ियां। जो लोग ऐसा कर रहे हैं, उनकी रचनाएं लिजलिजी हैं, अपने समय की समस्याओं को नजरअंदाज करके लिखा गया कोई साहित्य टिकाऊ नहीं होता। छठे दशक में इन तीन कथाकारों ने स्त्री केंद्रित जो साहित्य रचा, वह आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना तब था। इसलिए प्रतिमान की तरह बार-बार ध्यान उस ओर जाता है।

निर्मलाजी ने दो सौ सोलह पृष्ठ की इस पुस्तक में केवल पंद्रह पृष्ठों में 'जरूरी है यह कहना' तथा 'अपना-अपना जीवन' के तहत उन तीन समकालीन पुरुष कथाकारों को उदाहरण के रूप में सामने रखा है, जो अपनी तिकड़म से 'नई कहानी' आंदोलन को अपनी तरह से चला रहे थे। इन्हें पढ़ते हुए यह प्रश्न उठ सकता है कि उन्होंने इन तीन कथाकारों को ही क्यों लिया, जबकि उस समय अमरकांत और भीष्म साहनी जैसे कथाकार भी लिख रहे थे। पूरी पुस्तक पढ़ने के बाद यह प्रश्न स्वयं समाप्त हो जाता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्मलाजी का उद्देश्य 'नई कहानी' के दौरान लिखे गए संपूर्ण कथा-साहित्य का मूल्यांकन करना नहीं है, बल्कि वे सजग होकर इन तीनों को इसलिए लेती हैं कि ये बड़े कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित होने की चालाकियां कर रहे थे। जरूरी था इन तीनों से तुलना कर यह रेखांकित करना कि वे महिलाएं जो चुपचाप लिख रही थीं, बड़ी कथाकार हैं, उनके पास ज्यादा बड़ी कहानियां हैं, उनके पास बदलते परिवार और समाज को समझने की बड़ी और साफ दृष्टि है।

इस पुस्तक की खासियत यह है कि निर्मलाजी बहुत साफगोई के साथ हर लेखिका की सीमारेखा भी तय करती हैं और उनके महत्त्व को भी रेखांकित करती हैं। अपने समकालीनों पर इस प्रकार की टिप्पणी करने या निर्णय करने से अधिकांश लोग बचते हैं, लेकिन निर्मलाजी बिना किसी लागलपेट के अपना निर्णय देती हैं, इसलिए आलोचना में पैनी धार है। जैसे 'उषा प्रियंवदा के पास कृष्णा सोबती जैसी विविधता, विजन और लेखन के प्रति वैसा सचेत समर्पण भले ही न हो, पर बल उनका भी अनुभवों को उनके सतहीपन में पकड़ने के बजाय, घटनाओं और पात्रों की भीतरी गुहाओं में प्रवेश करने पर रहता है।' तथा 'मुझे उषा की जगह कृष्णाजी और मन्नू के बीच मालूम होती है। कृष्णाजी

की रचनाओं में अनुभव और अभिव्यक्ति के बीच का अंतराल दोनों की तुलना में कहीं अधिक रहता है। समय के साथ अनुभव के प्रति अपनी संलग्नता, निजत्व से वह जैसे धीमी प्रक्रिया में अपने को वाजिब दूरी तक मुक्त कर लेती हैं। उनकी स्थिति किसी कक्ष के भीतर या बाहर खड़े व्यक्ति के बजाय कुछ-कुछ देहरी पर खड़े होकर दोनों ओर का जायजा लेने वाले व्यक्ति की होती है—चाहे तो इसे सापेक्ष-निरपेक्ष की साधना कह सकते हैं।' या 'मन्नू भले ही संप्रेषणीयता को रचना का एकमात्र औचित्य न मानती हों, पर उनकी लोकप्रियता का मुख्य आधार उनकी सहज-संप्रेषणीयता ही है। उनके अनुसार रचना के मूलरूप का आधार, कोई वास्तविक घटना या व्यक्ति ही होता है, जबकि कृष्णाजी का मानना है कि आप पात्र की उपस्थिति से अपनी दूरी, अपने से उसकी नजदीकी पर अंकुश लगाते हैं तो आप अपने रचनाकार को मदद करते हैं। रचना की रचनात्मकता मात्र वृतांत नहीं।' इन उद्धरणों से न केवल रचनाकार के मंतव्य स्पष्ट होते हैं अपितु आलोचक के मंतव्य भी साफ दिखाई देते हैं।

'कथा समय में तीन हमसफर' पुस्तक की महत्ता निर्विवाद है। यह पुस्तक छठे दशक में उभरे स्त्री कथा-लेखन को नए सिरे से परिभाषित करती है और यह भी सूत्र छोड़ती है कि आज के स्त्री-विमर्श के दौर में इन तीनों लेखिकाओं के साहित्य को एक बार फिर से पढ़ने की आवश्यकता है। स्त्री-विमर्श के देहवादी भटकाव से मुक्ति का रास्ता तथा स्त्री जीवन के विविध संघर्षों का ताप इन तीनों लेखिकाओं की रचनाओं में विपुल मात्रा में मिलता है। मुझे इस पुस्तक की पठनीयता ने अधिक प्रभावित किया। अपनी बात संवादप्रिय शैली में कहने के नायाब उदाहरण के रूप में इस पुस्तक को पढ़ा जाना जरूरी है।

कथा समय में तीन हमसफर/निर्मला जैन/राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली/मूल्य : ` 300

अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पो. गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)-442005

आलोचना का लोकतंत्र

स्वयंप्रकाश

'आलोचना का लोकतंत्र' प्रसिद्ध आलोचक, संगठनकर्ता और 'प्रगतिशील वसुधा' के संपा. स्वर्गीय कमलाप्रसाद के जीवित रहते छपकर आई उनकी अंतिम पुस्तक है। पुस्तक अपनी समग्रता में उनके तीनों रूपों—आलोचक, संपादक और संगठनकर्ता को प्रतिबिंबित करती है, लेकिन यहां उनका एक चौथा रूप भी बीच-बीच में झलक मारता है, और वह रूप है एक संवेदनशील और आत्मीय मित्र का, जो उनकी आलोचना को भी रेखाचित्र जैसा मनोरम और संस्मरण जैसा रचनात्मक बना देता है, खासकर जब वह अपने अंतरंग सखाओं जैसे भगवत रावत, धनंजय वर्मा और राजेश जोशी पर लिखते हैं। उन आलेखों को पढ़कर लगता है आलोचक को ऐसा ही होना चाहिए—मानवीय और सदय मीमांसक। कम ही आलोचना ग्रंथों में मस्तिष्क के सारथी के रूप में हृदय की ऐसी मनोहारी भूमिका दिखाई देती है।

पुस्तक पांच खंडों में विभाजित है। पहले खंड में भाषा और साहित्य के मूलभूत प्रश्नों पर कुछ इतिवृत्तात्मक और सूचनात्मक आलेख हैं। दूसरे खंड में हिंदी आलोचना के कुछ पहलुओं पर विभिन्न आलोचकों के आलोचना कर्म के संदर्भ में विचार किया गया है। तीसरे खंड में दस उपन्यासों की सौंदर्य मीमांसा है। चौथे खंड में मात्र एक आलेख है, जो समकालीन युवा कहानी पर केंदित है और पांचवें तथा अंतिम खंड में छह कवियों के रचना कर्म की परख है। अंत में तीन ऐसे आलेख भी हैं, जो परिशिष्ट के रूप में जोड़े गए-से प्रतीत होते हैं। पहला है 'हजारीप्रसाद द्विवेदी की सौंदर्य दृष्टि का छंद', दूसरा है 'हिंदी व्यंग्य और हरिशंकर परसाई की कला' और तीसरा, जिसे शायद तीसरे खंड में होना चाहिए था, है—'समृद्ध जीवनानुभवों का संसार (उपन्यासकार श्रीलाल शुक्ल)'

पहले खंड के पहले लेख का शीर्षक है 'साहित्य के सौ वर्ष : लोकतंत्र की अंतर्यात्रा'। यूं तो यह लंबा लेख अधिकांशतः इतिवृत्तात्मक, सूचनात्मक और परिगणनात्मक है, लेकिन इसके पीछे मूल भावना यह है कि मार्क्सवादी आलोचना के विरोधी आमतौर पर लोकतंत्र के नाम पर ही इस पद्धति को खारिज कर देते हैं। उनका मानना होता है कि मार्क्सवादी आलोचना में लोकतंत्र की गुंजाइश ही नहीं है, जबकि लोकतंत्र का मूल सच यही है कि असमान पूंजीवादी समाज चल ही नहीं सकता। सच यह भी है कि यथार्थ प्रेरित, सार्थक, सतत रचनाशील वैकल्पिक लोकतंत्र का स्वप्न मार्क्सवाद के यूटोपिया में ही पाएंगे।' (भूमिका, पृ. 10-11) इस रोशनी में हिंदी-साहित्य के

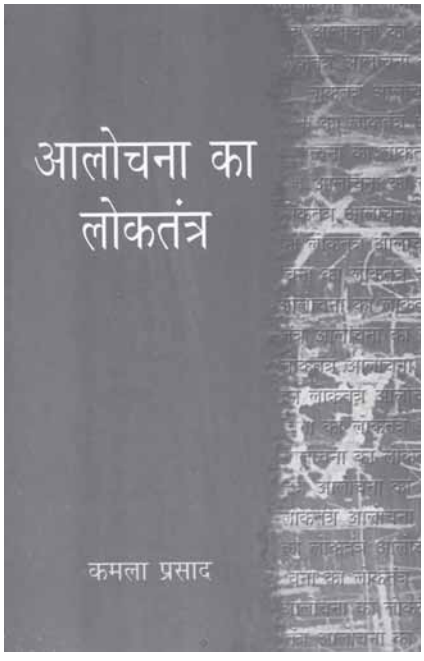

सौ वर्षों के इतिहास पर एक नजर डालना दिलचस्प है। खासकर इसलिए भी कि इसमें साहित्य के साथ-साथ भाषा पर भी और हिंदी के साथ-साथ उर्दू पर भी बात की गई है।

वैसे उर्दू पर विस्तार से विचार इस खंड के तीसरे आलेख 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी' में है। लेखक का मानना है कि उर्दू मुसलमानों की नहीं, इस देश की भाषा है और उर्दू की रक्षा मुसलमानों की समस्या नहीं है।' (पृ. 58)

इस खंड का एक महत्त्वपूर्ण लेख है 'आलोचना का लोकतंत्र' जिस पर पुस्तक का नाम रखा गया है। इस लेख में लेखक ने जोर देकर कहा है कि 'आलोचना का काम सिर्फ साहित्यालोचन नहीं है और न साहित्य का अध्ययन अपने आप में साध्य है।' (पृ. 110) उन्होंने मुक्तिबोध के हवाले से आलोचना को 'सभ्यता समीक्षा' कहा है और इसे चरितार्थ करने के लिए वैश्वीकरण, एकलध्रुवीकरण और अमरीकीकरण के कारण लोकतंत्र पर आए संकट की गंभीरता पर विस्तार से विचार किया है। आलोचना के धर्म और दायित्व पर चर्चा करते हुए लेखक ने इस लेख में बार-बार रामचंद्र शुक्ल को याद किया है। आज की परंपराविच्छिन्न और विखंडनवादी आलोचना के संदर्भ में लेखक का आग्रह है कि 'लोकतंत्र में अराजकता के लिए जगह नहीं है। सार्वजनिक जीवन के बीच सामंजस्य के लिए जिस तरह के नियमन की जरूरत होती है, आलोचना का लोकतंत्र उसी तरह देशकाल के बीच रचना व्यापार के सामान्य तत्त्वों, विशेष तत्त्वों का संश्लेष तैयार करके लोकतंत्र का निर्वाह कर सकता है। 'आलोचना में लोकतंत्र की परंपरा पुरानी है, जिसको छोड़कर नए का आकार नहीं बन सकता। परंपरा को लोकतांत्रिक रूप से आज के भयावह और तीव्रगामी समय में भी फलीभूत करना आज का अभिप्रेत है।' (पृ. 114)

पुस्तक के दूसरे खंड में सर्वश्री विजयदेवनारायण साही, प्रमोद वर्मा और धनंजय वर्मा के समग्र आलोचना कर्म पर विचार किया गया है। यहां इन आलोचकों की पुस्तकों की समीक्षा नहीं, उनके आलोचकीय विवेक और स्वभाव की विवेचना है। मसलन धनंजय वर्मा के आलोचना कर्म पर लेखक का कहना है, 'धनंजय की आलोचना में सार्वभौमिकता के गुणों के साथ एक विशेष प्रकार की आक्रामकता, आवेग और ओज मिलता है।' (पृ. 142) 'विकासपरक आलोचना का यही स्वभाव है। जितनी भिड़ंत, आलोचना का उतना ही विकास। रामचंद्र शुक्ल रहस्यवादियों से भिड़ते हैं, नामवर परिमलवादियों से भिड़ते हैं और धनंजय आधुनिकतावादियों के मनोवाद और कलावाद तथा प्रगतिशीलों की विसंगतियों से भिड़ते हैं। धनंजय की आलोचना का सबसे आकर्षक स्थल वही होता है, जहां वह दुश्मन को अपनी तर्क शृंखला से पराजित करते हैं।' (पृ. 143) कहना न होगा कि इससे कम शब्दों में आलोचक धनंजय वर्मा के काम को व्यंजित नहीं किया जा सकता था।

प्रमोद वर्मा पर कमलाप्रसाद के लेख का यह भी महत्त्व है कि प्रमोद वर्मा पर लिखा ही किसने है?

पुस्तक के अगले खंड में दस उपन्यासों की सौंदर्य मीमांसा है। यहां आलोचना का ढंग पुराना है। आलोचक पहले उपन्यास के कथानक का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर देता है और फिर उसके एक-एक पहलू पर विचार करता है। आलोच्य उपन्यासों में कोई साम्य या समानांतरता हो, यह जरूरी नहीं। यह समीक्षक की रुचि और चुनाव पर निर्भर करता है, लेकिन नहीं, यहां सभी समीक्षाओं का एक सामान्य संदर्भ है, और वह है दलित जीवन। चाहे वह गिरिराज किशोर का उपन्यास 'परिशिष्ट' हो या शिवमूर्ति का 'तर्पण' या ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन'। इस बात के लिए लेखक की प्रशंसा करनी पड़ेगी कि हिंदी-साहित्य के समसामयिक दलित-विमर्श पर अपनी तरफ से कोई वक्तव्य देने या मंतव्य प्रकट करने की बजाय उन्होंने समकालीन साहित्य में वर्णित दलित जीवन से इसे समझने की कोशिश की। पाठ के माध्यम से आलोचना की बात तो बहुत लोग कहते हैं, लेकिन इसके लिए जिस आलोचकीय विनम्रता और अध्येता के समर्पण भाव की आवश्यकता होती है, उसका परिचय बहुत कम लोग दे पाते हैं। प्रसन्नता की बात यह है कि यह मुद्दा, जो आसानी से घसीटकर समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र या राजनीतिक इतिहास में धकेल दिया जाता है, उसे लेखक ने साहित्य तक और साहित्य में भी उपलब्ध औपन्यासिक अंतर्साहित्य तक ही सीमित रखा। यह बौद्धिक न्यूनता नहीं, आलोचकीय बड़प्पन है, जो विद्वत्ता प्रदर्शन से गुरेज करता है, कृति को बोलने देता हे, स्वयं को नेपथ्य में रखता है और फिर भी सिद्धांत के बारे में कोई समझौता नहीं करता।

इस खंड में जिन अन्य उपन्यासों पर विचार किया गया है, वे हैं गिरिराज किशोर का 'परिशिष्ट', तेजिन्दर का 'वह मेरा चेहरा', भगवानदास मोरवाल का 'काला पहाड़' एवं 'बावल तेरा देस में', मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' और 'कहे ईसुरी फाग', विनोदकुमार शुक्ल का 'नौकर की कमीज' और मुक्तिबोध का 'विपात्र'।

अब यहां कुछ महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक कथन है, जिनसे सहमति-असहमति की गुंजाइश बनती है। मसलन 'परिशिष्ट' के संदर्भ में लेखक का कथन है, 'उपन्यास में निहित लेखक की दृष्टि से सारतत्त्व तैयार किया जाए तो कहा जाएगा कि प्राथमिकता मानसिकता में परिवर्तन की है। इससे ही बराबरी आएगी, आरक्षण से नहीं। अनुसूचितों में आंतरिक सामर्थ्य आएगी तो वे जंग जीतेंगे। प्रश्न है कि रचनाकार के इन विचारों की परंपरा कहां है?' (पृ. 161-162)

'विपात्र (मुक्तिबोध) का पुनर्पाठ' का

यह महत्त्वपूर्ण अंश देखें—'व्यक्तिबद्धता को काल्पनिक प्रयत्नों से उदात्त या आदर्श बनाया जा सकता है, पर उसमें अनुभव की आंच नहीं होगी। अनुभव की आंच के बिना जड़ीभूत मूल ग्रंथियां नहीं पिघलतीं। कार्यकर्ता होने मात्र से कोई लेखक नहीं बन जाता। लेखन की प्रतिभा का धनी व्यक्ति कार्यकर्ता होता है और चेतना समूहबद्ध होती है तो उसके अनुभव उदात्तीकृत, आदर्शीकृत, रचनात्मक औदार्य सच्चे अर्थों में आत्मप्रकटीकरण होता है। (पृ. 212)

निबंध 'जीवन में कविता' में कहते हैं, 'महान कविता बिना आंदोलन के जन्म नहीं लेती। समाज में हलचल का होना, वर्जनाओं का टूटना,सामुदायिक भावबोध का विकसित होना और उदात्त दृष्टि का आलोक महत्त्वपूर्ण कविता के लिए स्वाभाविक शर्त बन जाते हैं।'' (पृ. 247)

या 'प्रगतिशील कविता में वर्ग शत्रुओं पर आक्रमण बहुत हुए हैं, पर वर्ग मित्रों की तलाश कम है। वर्ग मित्रों का उल्लास, प्रेम, सौंदर्य और प्रकृति के साथ अंतरंगता केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन में बहुत है। ठेठ गांव-गंवई के संस्कारों को अचानक निकाल फेंकने से कवियों का रचना संसार रिक्तता का शिकार होता है। उनमें सत्य की बजाय सत्याभास ही बसता है। सौंदर्यबोध की सर्वांग उपस्थिति उनकी कविता में दुर्लभ होती है। वे उद्‌गार व्यक्त करते रहते हैं।' (पृ. 281)

दुःख की बात है कि हिंदी में आलोचना की अधिकांश पुस्तकें लिखी नहीं, बनाई जाती हैं। यह पुस्तक भी लिखी नहीं गई है, बनाई गई है। कमलाप्रसादजी ने यदि संगठन के लिए अपने लेखक को कुर्बान न कर दिया होता तो शायद उन्हें डटकर बैठने और पुस्तक लिखने का साथ अवश्य मिल गया होता।

फिर भी हिंदी आलोचना की वर्तमान दशा को देखते हुए लगता है इस और ऐसी पुस्तकों को संभालकर रख लेना चाहिए, क्योंकि आगे शायद ऐसी पुस्तकें पढ़ने को नहीं मिलेंगी।

आलोचना का लोकतंत्र/कमला प्रसाद/सामयिक बुक्स, 3320-21, जटवाड़ा, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 495

3/33, ग्रीन सिटी, ई-8, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.), मो. 09425018

रचना-आलोचना का स्वाधीन विवेक

दीपक प्रकाश त्यागी

जो लिखते हैं, कविता/और करते हैं प्यार/वो धरती को थोड़ा और चौड़ा करते हैं/थोड़ा और गहरा/थोड़ा और नम।

यह कविता विश्वनाथजी के शब्द कर्म पर बहुत सटीक बैठती है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी मूलतः कवि स्वभाव के हैं, किंतु उनका कवि रूप उनके आलोचक, संस्मरणकार एवं संपादक रूप तक व्याप्त है और सद्यः प्रकाशित किताब 'विश्वनाथ प्रसाद तिवारी : साहित्य का स्वाधीन विवेक' इसे प्रमाणित भी करता है। आज जिस तरह साहित्य की विधाएं, कभी विचारधारा के नाम पर तो कभी सत्ता-सुख के नाम पर पराधीन हो रही हैं, वहां विश्वनाथ तिवारी का स्वाधीन रचनाकार व्यक्तित्व एक विरल उदाहरण है। वे सेकुलर एवं गुट निरपेक्ष रचनाधर्मिता के विरल उदाहरण हैं। कुछ लोगों ने उन्हें अज्ञेयवादियों के खेमें में डालने के लिए भरसक कोशिशें की, किंतु उन्हें असफलता ही हाथ लगी, क्योंकि विश्वनाथजी के संपूर्ण शब्द कर्म में राजनैतिक प्रतिबद्धता के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। वे कहते हैं कि जो अच्छा आदमी नहीं हो सकता, वह लेखक भी अच्छा नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द और अर्थ नहीं है कविता/सबसे सुन्दर सपना है/सबसे अच्छे आदमी का। उनमें गहरा साहित्य विवेक है, तो संवेदनशील शुद्ध मन था। तभी तो वे लिखते हैं—

बेहतर कविता लिखेगा वही/जो बेहतर कवि होगा/जिस समय वह लिख रहा होगा/सबसे अच्छी कविता/जरूर होगा उस समय वह/सबसे अच्छा आदमी।

हिंदी जगत में विश्वनाथजी की ख्याति एक अच्छे आदमी वाले कवि की है, क्योंकि कवि कर्म एवं जीवन दोनों में ही वे प्रेम, करुणा, संवेदनशीलता, उदारता, उत्सर्ग, निश्छलता, ईमानदारी, कर्मनिष्ठा के प्रति पक्षधर हैं। वे रचना में स्वाधीन विवेक के हिमायती हैं, किंतु कट्टरता उन्हें सह्य नहीं है। साहित्य में राजनीति एवं विचारधारा के प्रभुत्व को वे स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी यह कविता बहुत कुछ कहती है—

उनकी कसौटियां झांवे की तरह खुरदरी थी/जिसे वे आदमियों की त्वचा पर रगड़ते थे/और इस तरह कसते थे आदमी को/आदमी बड़ा था और कसौटियां छोटी/इस पर वे झुंझलाते थे और आदमी को रगड़-रगड़कर/छोटा करते जाते थे।

ओम निश्चल के संपादन में निकली इस पुस्तक की विशिष्टता उनका संपादकीय विवेक भी है, जो पूर्वग्रह से मुक्त होकर विश्वनाथजी की संपूर्ण रचनायात्रा में आने वाले विभिन्न पड़ावों को उनके महत्त्व के

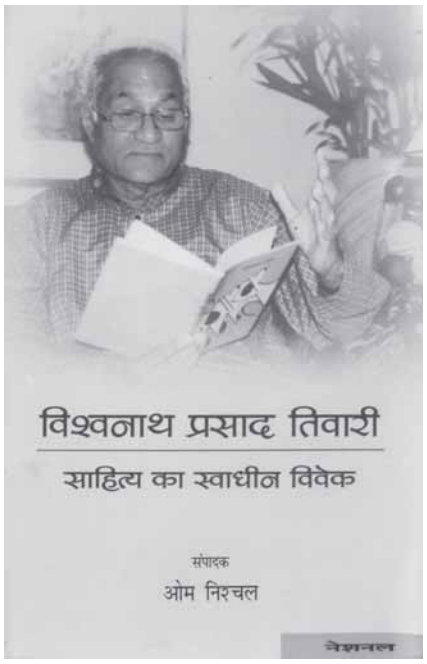

अनुरूप जगह देता है। 'व्यक्तित्व', 'कविकर्म', 'आलोचना दृष्टि', 'यात्रा वृत्त और संस्मरण', 'दस्तावेज का संपादन' स्तंभों के अंतर्गत अनेक पीढ़ियों, विचारधाराओं, मत-मतवादों के लेखकों ने विश्वनाथजी पर मुक्त कंठ एवं मुक्त भाव से लिखा है, कुछ बड़े लेखकों ने शुभकामना दी है, तो कुछ ने पूरे हिंदी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में विश्वनाथजी की रचना यात्रा का निर्भीक एवं सम्यक/ मूल्यांकन किया है। 'व्यक्तित्व' स्तंभ के अंतर्गत भले ही शुभकामना के स्वर में ही सही, किंतु केदारनाथ सिंह, रामदरश मिश्र, शिवकुमार मिश्र, प्रकाश मनु, ए. अरविंदाक्षन, कृष्णचंद्र लाल एवं सूर्य प्रसाद दीक्षित ने विश्वनाथजी के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को उद्घाटित किया है। केदारनाथ सिंह उनकी 'आरा मशीन' कविता पर मुग्ध हैं, किंतु उनके यात्रावृत्तांत-लेखन को महत्त्वपूर्ण मानते हैं, तो रामदरश मिश्र 'उनमें सादगी का ओज' देखते हैं। शिवकुमार मिश्र ने आत्मीयता से तिवारीजी को रेखांकित करते हुए लिखा है कि, ''तिवारीजी व्यक्ति के रूप में बहुत सहज, गंवई, गांव की पारदर्शी मानसिकता वाले विभेदी स्वभाव के अपनी आत्मीयता के दायरे में सहज ही किसी को खींच लेने वाले व्यक्ति हैं।' उनके साहित्य का मूल्यांकन भी मिश्रजी ने किया है। प्रकाश मनु ने तिवारीजी के निर्भीक संपादक व्यक्तित्व को अपने संस्मरण में जगह दी है, इसके पीछे मुख्य कारण यह है कि प्रकाश मनु दस्तावेज परिवार के लेखक हैं। उन्होंने स्वीकार भी किया है, 'दस्तावेज ने भी मुझे एक साहित्यिक मंच ही नहीं, एक भला और संवेदनशील साहित्यिक परिवार भी दिया है, जिसने मुझे साहित्य के प्रति आस्था दी।' इसी लेख में प्रकाश मनु ने विश्वनाथजी के संस्मरणों एवं उनके संपादकीय साहस एवं निर्भीकता का मूल्यांकन किया है। विश्वनाथजी शायद पहले संपादक हैं। जो अपने संपादकीय में राजेंद्र यादव एवं नामवर सिंह जैसे बड़े आलोचकों की आलोचना दृष्टि की सीमाओं एवं विरोधाभासों को बड़ी दृढ़ता से साहित्य जगत के सामने लाते हैं, यहां वे इनसे कहीं आक्रांत भी नहीं हैं और न ही उत्तेजना में अपना आपा ही खोते हैं और न लीक छोड़ते हैं। प्रकाश मनु की टिप्पणी है, 'तिवारीजी ने राजेंद्र यादव और नामवर सिंह पर दो लंबे और ऐतिहासिक महत्त्व के लेख लिखकर दर्शाया कि बगैर उत्तेजना के ज्यादा मार की जा सकती है। उसमें भी उत्तेजना होती तो है, पर वह छलकती नहीं फिरती और एक आंतरिक शक्ति बनकर फूटती है। तिवारीजी से बेशक यह बात मैं और मेरी पीढ़ी के लोग सीख सकते हैं।' अरविंदाक्षन भी कुछ इसी अंदाज में तिवारीजी के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हैं और रेखांकित करते हैं उनकी यह कविता (उनकी एक कविता 'सड़क पर एक लंबा आदमी' के सहारे यद्यपि यह कविता जयप्रकाश नारायण के लिए लिखी गई थी)—

चौराहे का सिपाही आंखें फाड़े देख रहा था/बाप रे, सड़क पर इतना लंबा आदमी/सीधा तना चल रहा था वह/राजपथ पर दृढ़/विनम्र और बेपरवाह।

यह कविता विश्वनाथजी का पूरा नक्शा ही बनाती है—साहित्य के राजपथ पर वे दृढ़ हैं, किंतु विनम्र और बेपरवाह भी। कृष्णचंद्र लालजी ने भी इसी कविता के सहयात्री के रूप में विश्वनाथजी के व्यक्तित्व को देखा है और ठीक से देखते हुए लिखा है कि, 'उनकी (विश्वनाथ प्रसाद तिवारी) सादगी, उनकी स्निग्ध मुस्कान, बच्चों जैसी सरलता और धीरे-धीरे बोलते हुए गहराई में उतरने की कला किसी को भी सहज रूप से आकृष्ट कर लेती है। विश्वनाथ, जो कभी किसी को आदेश नहीं देते, लेकिन उनकी विनम्रता, सुशीलता और आत्मीयता जो आदेश देती है, उसे कोई टाल नहीं पाता।' कृष्णचंद्रजी के ये विचार गहरे साहचर्य से निःसृत हैं, अतः इन पर भरोसा भी किया जा सकता है, किंतु विश्वनाथजी के व्यक्तित्व से जुड़ी एक उन्हीं की कविता की पंक्ति मार्मिक है, जहां वे 'रीढ़' को मनुष्य के लिए जरूरी मानते हैं—पर रीढ़ न हो सीधी/तो कैसे बनेगा आदमी/कैसे खड़ा होगा वह/गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध। इतना ही नहीं, वे आगे भी जो लिखते हैं, उनमें उनकी स्वाधीन चेतना को देखा जा सकता है—

खड़े होते हैं बंदर और भालू भी/अपनी रीढ़ पर कभी-कभी/पर गीदड़ और गधे कभी नहीं,/रीढ़ झुकी है तो हाथ बंधे हैं/हाथ बंधे हैं तो बंधी हैं आंखें/आंखें बंधी हैं तो बंधा है मस्तिष्क/मस्तिष्क बंधा है तो बंधी है आत्मा।

यह रीढ़ ही है, जो विश्वनाथजी को सीधा, तना एवं स्वाधीन रखती है, किंतु कृष्णचंद्रजी के लिए वे 'सद्विचारों के संवाहक' हैं, उनकी जीवन-शैली सम्मोहक है, किंतु मूल्य को जीवन से भी बड़ा मानते हैं, शायद इसीलिए इस जीवन में प्रेम को उन्होंने स्थगित कर दिया है, अगले जन्म के लिए—प्यार मैंने भी किए हैं/मगर ऐसे नहीं/कि दुनिया पत्थर मारकर अमर कर दे। तो फिर उनकी आकांक्षा है—मेरे ईश्वर/यदि अतृप्त इच्छाएं/पुनर्जन्म का कारण बनती हैं/तो फिर जन्म लेना पड़ेगा मुझे/प्यार करने के लिए। कृष्णचंद्रजी विश्वनाथजी को 'दुर्लभ प्रजाति का मनुष्य' मानते हैं तो दयानंद पांडेय उन्हें 'गंगा, यमुना, सरस्वती का संगम' मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि 'ऐसे निर्लज्ज समय में हमें खुशी है कि सत्तर की कसौटी पर कसे विश्वनाथ प्रसाद तिवारी अभी तक न सिर्फ बेदाग हैं, बल्कि संगम की शालीनता की प्रतिमूर्ति बन हमारे बीच उपस्थित हैं। जैसे गंगा काशी को नहीं छोड़ती, वैसे ही सादगी विश्वनाथजी को नहीं छोड़ती।' अनंत मिश्र विश्वनाथजी में गांधीवाद देखते हैं तो सूर्य प्रसाद दीक्षित उनकी निःसंगता के कायल हैं। सुनीता जैन, जो 'वत्सल निधि' के माध्यम से विश्वनाथजी के संपर्क में आई थीं, उन्हें विश्वनाथजी 'सदाशय, उदार एवं सम्यक दृष्टि से संपन्न' नजर आते हैं तो पुष्पिता अवस्थी 'जीवनोन्मुखी व्यक्तित्व' से संपन्न लेखक के रूप में उन्हें रेखांकित करती हैं।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी एक लंबी काव्य-यात्रा पर हैं। अब तक 'चीजों को देखकर', 'साथ चलते हुए', 'बेहतर दुनिया के लिए', 'आखर अनंत', 'शब्द और शताब्दी', 'बेड़ियों के विरुद्ध', 'फिर भी कुछ रह जाएगा' (व्यास सम्मान से सम्मानित) संग्रह प्रकाशित है, जिसमें उनकी संवेदनशीलता, समय की तपिश, अनुभव की मार्मिकता एवं शब्द के प्रयोग ने पूरे साहित्य जगत का ध्यान आकृष्ट किया है, जिसका प्रमाण 'कवि कर्म' स्तंभ है। इस स्तंभ के अंतर्गत प्रभाकर श्रोत्रिय, लीलाधर जगूड़ी, रेवती रमण, चंद्रकांत वांदिवडेकर, अरविंदाक्षन, विश्वंभर नाथ उपाध्याय, विजय बहादुर सिंह, कैलाश वाजपेयी, नंदकिशोर आचार्य, भारत भारद्वाज, लीलाधर मंडलोई, रमेश दवे से लेकर एकांत श्रीवास्तव तक के लेख हैं, जिनमें उनकी काव्यदृष्टि एवं कवि कर्म का मूल्यांकन है। पहले ही लेख में प्रभाकर श्रोत्रिय उन्हें विद्रोही परंपरा का ऐसा

कवि मानते हैं, जिसमें आग, बेचैनी तो है, किंतु गहरी आस्था एवं आशावाद भी—इस बंदीगृह में क्रांति हो जाएगी/सभी बेड़ियां टूट जाएंगी/सभी दीवारें धंस जाएंगी/एक भी पहरेदार का पता नहीं चलेगा। भाषा की संक्षिप्ति, विन्यास की वक्रता, व्यंग्य-गंध, कलात्मकता, प्रतीकवत्ता एवं बिंबों की शृंखला के कारण विश्वनाथजी की कविता का महत्त्व है। लीलाधर जगूड़ी विश्वनाथजी को 'प्रतिप्रश्नों का कवि' मानते हैं। इनकी टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है, 'बेहतर दुनिया के लिए वे अपने समकालीन कवियों से अलग रास्ते की तलाश में आखरों की अनंत शक्ति को वहां तक पहुंचाने की व्यग्रता में दिखते हैं, जहां वे कह सकते हैं कि फिर भी कुछ रह जाएगा।' जगूड़ीजी विश्वनाथजी की कविता में जीवन एवं जगत का द्वंद्व भी देखते हैं, जो ठीक ही है, क्योंकि उनके यहां लोकजीवन का व्यापक संसार है तो भाषा की गहरी सरलता, जो आज के समय में दुर्लभ है।

रेवतीरमण ने विश्वनाथजी की कविताएं भी संपादित की हैं और उन पर मुक्त भाव से उनके पहले की पीढ़ी की कविताई के परिप्रेक्ष्य में विचार करते हुए लिखा भी है। रेवतीरमण विश्वनाथजी को आत्मसजग एवं शिल्प सजग कवि मानते हुए लिखते हैं कि, 'यथार्थ की द्वंद्वात्मक अनुभूति से विश्वनाथजी कविता में अपने मुहावरे की तलाश करते हैं तो अज्ञेय के समीप होकर भी दूसरा अज्ञेय नहीं बनना चाहते। उनमें राजकमल चौधरी जैसी बढ़ी हुई संवेदनशीलता होने पर भी वर्जित प्रदेशों में निर्बंध भ्रमण की समाज विरोधी नैतिकता नहीं मिलती। वह व्यवहारतः एक संतुलित और सामाजिक मनुष्य बने रहते हैं।' इसी गुण के कारण उनमें आक्रोश भी बेचैनी के साथ है और वे भी रघुवीर सहाय और धूमिल की तरह सही अर्थों में लोकतंत्र की तलाश भी करते हैं, किंतु उनकी भाषा में न तो भदेसपन है और नहीं उखड़ापन, बल्कि वे विचलनहीनता के अप्रतिम उदाहरण हैं, क्योंकि उनमें गहरा विचार तत्त्व है। 'बेहतर दुनिया के लिए' वे संघर्ष करने वाले गुटहीन कवि हैं। इसीलिए वे लिखते हैं—

मुझे तुमसे पद नहीं चाहिए/मुझे तुमसे सुविधा नहीं चाहिए/मुझे तुमसे दूसरों का हक नहीं चाहिए।

इसमें सच कहने एवं सुनने की ताकत है। चंद्रकांत बांदिवडेकर के लेख के सहारे कहूं तो विश्वनाथजी की कविताएं आशा, आस्था और उदात्त की कविताएं हैं। चंद्रकांत बांदिवडेकर ने एक महत्त्वपूर्ण काव्यदृष्टि की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'राजनीतिक स्थितियों, आर्थिक विषमताओं, घोर से घोर विपत्तियों के बीच भी यह गांव के किसान की मूलभूत जिजीविषा, जीवन और ईश्वर में आस्था, सत् में अडिग विश्वास, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविता का मूल स्वर है।' विश्वनाथजी 'पूरे करो वायदे' कविता में कहते हैं—

कवियो पूरे करो अपने वायदे/शायद कुछ बच जाए/तुम्हारे शब्दों से।

क्योंकि यहां एक गहरा नैतिक बोध भी है। इसीलिए प्रेमरंजन अनिमेष सादगी और आत्मीयता को विश्वनाथजी की कविता की खासियत मानते हैं और पठनीयता को मुख्य धर्म। विश्वनाथजी की कविता में कलात्मकता एवं वैचारिकता का दुर्लभ संतुलन है, जो आज के समय में बड़ा जरूरी है। विश्वनाथजी के यहां पक्ष भी है और प्रतिबद्धता भी, किंतु वह किसी खास विचारधारा का उपनिवेश नहीं है, बल्कि वह कविता एवं मनुष्य की जरूरत की तरह है।

अरविंदाक्षनजी ने अपने लेख में विश्वनाथजी की कविताओं पर लिखते हुए रेखांकित किया है कि 'विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविता अनिवार्यतः रची जाने के बावजूद स्वयं रचती प्रतीत होती है।' यह रचने की क्रिया आज की कविता में बहुत कम दिखाई दे रही है, क्योंकि जीवन यथार्थ एवं भाषा में द्वैत है, जबकि विश्वनाथजी की कविता वृहत्तर अनुभव यात्रा से पैदा होने के कारण जीव, यथार्थ, सृजन, भाषा, संवेदना, कला-शिल्प से अद्वैत है, क्योंकि विश्वनाथजी की कविता जिंदगी ही है। उन्होंने एक कविता में लिखा है कि—

भोगी हुई जिंदगी से लिखी हुई जिंदगी तक/मैंने जो की हैं यात्राएं/उन्हें आप कह सकते हैं मेरी कविताएं/मगर मेरे लिए कविता जिंदगी ही है/भाषा की सलीब पर अटकी जिंदगी/और मैं दोनों को साथ-साथ ढो रहा हूं।

इसीलिए विश्वनाथजी के यहां मनुष्य की जययात्रा के लिए निरंतर संघर्ष करता हुआ कवि दिखाई देता है, जो परास्त होना नहीं जानता। अरविंदाक्षनजी के शब्दों में कहूं तो विश्वनाथजी की कविता 'संस्कृति के पक्ष में संवेदित' होने वाली कविता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी की दुर्दम्य जिजीविषा का स्वर यहां भी है—क्या तुम्हें यकीन है/मर जाएंगी जिजीविषाएं?/झर जाएंगी आस्थाएं?/सूख जाएंगे सपने?/व्यर्थ हो जाएंगे शब्द?/नहीं, जरूर कुछ रह जाएगा।' विश्वनाथजी की इस आस्था के पीछे उनका लोकमन है। विजय बहादुर सिंह ने विश्वनाथजी की कविता की किसान चेतना की ओर रेखांकित किया है। विश्वनाथजी की कविता के एक बड़े हिस्से में गांव है—अंधेरे में ढिबरी-सा टिमटिमाता गांव—जो उड़े हुए रंग-सा/पुंछे हुए सिंदूर-सा/ सूखे कुएं-सा/जली हुई रोटी-सा/हंड़िया में खदबबदाते कोदो के दाने-सा गांव/'

रमेश दवे ने विश्वनाथजी की शब्द सृष्टि को रेखांकित किया, कुमार कृष्ण ने उन्हें 'मनुष्य मंगल का कवि' कहा तो अष्टभुजा शुक्ल ने उन्हें 'जीवन सत्य एवं काव्य-सत्य के बीच' पाया। लीलाधर मंडलोई उनकी कविता की दुनिया को 'बेहतर दुनिया के रास्ते' के लिए जरूरी मानते हैं, करुणाशंकर उपाध्याय उनमें 'सामाजिक चिंता तथा संवेदात्मक औदात्य' देखते हैं, वेदप्रकाश अमिताभ उनकी कविता को 'सच्ची दृष्टि की कविता' कहते हैं, आलोक गुप्त के लिए वे 'जीवन उत्सव के कवि हैं', अरुण होता उनकी कविता के कारण उन्हें 'समय के आर-पार के कवि' के रूप में देखते हैं तो विजय कुमार मोहंती 'पीड़ित मनुष्य की पक्षधरता' के कारण उनकी कविता को जरूरी मानते हैं। कैलाश वाजपेयी ने विलक्षण मूल्यांकन करते हुए उनकी कविता को निर्मल चित्त की कविता' मानते हुए लिखा है कि 'उनकी संवेदना और दृष्टि इतनी निर्मल और सरल है कि वे तत्काल आपसे मैत्री संबंध स्थापित कर लेती हैं। उनके सरोकार निश्छल हैं। ऐसा शायद इसलिए कि वे एक पवित्र वैष्णव चेतना की उपज हैं।' नंदकिशोर आचार्य ने उनकी कविता को 'प्यार की गुंजाइश की कविता' के रूप में रेखांकित किया है, किंतु ऐसा नहीं है। वे साहित्य में व्याप्त विडंबनाओं, दुरभिसंधियों, कुपाठों और प्रगतिवादी पश्चिमपरस्त विचारणा के पिछलग्गुएपन पर उंगली रखते हें। वे सतर्क करते हैं कि

'आधुनिक सभ्यता रुग्ण सभ्यता है।' इस तरह तिवारीजी की आलोचना किसी सभ्यता समीक्षा से कम नहीं है। कृष्णदत्त पालीवाल ने अपने लेख में लिखा है कि ''तिवारीजी की आलोचना में लिपटा अज्ञेयजी वाला 'भारतीयता का आलोक' पाठक के चित्त को हरा-भरा रखता है। परंपरा के भीतर पैठकर सत्य को गहने की संकल्प शक्ति ने उन्हें पावनताजनित विवेक के चैनलों से संपन्न किया है। सच को कहने में वह डरने वाली, मिमियाने वाली आलोचना नहीं है, 'एकदम दबंग, तगड़ी और तमाम तरह के उपद्रव पैदा करनेवाली उपद्रवी या कोलाहली आलोचना है।' किंतु विश्वनाथजी की दबंगई शालीनता, तार्किकता एवं सात्विकता के साथ है। इसीलिए उनकी आलोचना में परंपरा और आधुनिकता, संस्कृति एवं साहित्य के बीच एक सामंजस्य का स्वर है। इसी स्वर के कारण श्रीभगवान सिंह उन्हें प्रगतिशील खेमे से बाहर का प्रगतिशील समीक्षक मानते हैं। इन्होंने लिखा है कि 'तिवारीजी मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, उत्तर आधुनिकतावद जैसे पश्चिमी वादों से सामग्रियां लेकर अपने आधुनिकता बोध एवं प्रगतिशील सोच का स्थापत्य खड़ा नहीं करते। हालांकि पश्चिमी विचारों के साथ उनकी आवाजाही काफी है, किंतु वे अपनी प्रगतिशीलता का वितान रचते हैं—वेद, उपनिषद, बौद्ध, जैन जैसे चिंतनपरक ग्रंथों और बाल्मीकि, भवभूति, कालिदास, कबीर, तुलसी से लेकर महात्मा गांधी तक प्रवहमान रही भारतीय प्रगतिशीलता की पीठिका पर खड़े होकर।' रेवतीरमण ने तो उन्हें आलोचना का मज्झिम निकाय कहा है तो गोविंद मिश्र उनकी आलोचना को वातावरण का शुद्धिकरण मानते हैं। मधुरेश ने 'नए साहित्य का तर्कशास्त्र' गढ़ने वाले आलोचक के रूप में रेखांकित किया है।

तिवारीजी की 'रचना के सरोकार', 'गद्य के प्रतिमान', 'कविता क्या है?', 'आलोचना के हाशिए' आलोचनात्मक कृतियों ने आलोचना के परिसर को समृद्ध किया है, जिसे चित्तरंजन मिश्र, गोपेश्वर सिंह, रामचंद्र तिवारी, चंद्रकला त्रिपाठी ने स्वीकार भी किया है। इन लेखकों की समीक्षाओं में भी तिवारीजी की आलोचना के अनेक सूत्र रेखांकित हैं। यह सच है कि विश्वनाथजी की कविता प्यार करने की प्रक्रिया में लिखी गई कविता है, जिसमें प्यार किसी व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है, बल्कि पूरी धरती, जीवनमात्र से वे प्रेम करते हैं। इस प्रेमतत्व के कारण ही उनके यहां आक्रोश नहीं, बल्कि जीवन की उष्मा है, बातचीत का सहज संवाद है। इसीलिए लगता है कि विश्वनाथजी की काव्य-यात्रा आत्मीयता के प्रसार की यात्रा है, जो लोक-जीवन की गंध लोक-जीवन की गंध से सराबोर है। आलोचक भारत भारद्वाज की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है एवं सार्थक भी। 'विश्वनाथजी की कविताओं के केंद्र में मनुष्य, मनुष्यता का दुःख, प्रेम, स्त्री ही नहीं, पुस्तकें भी हैं—यानी जीवन के आसपास का समूचा संसार है।' भारत भारद्वाज ने ठीक से रेखांकित किया है कि तिवारीजी की कविताएं सहज और सरल हैं, किंतु अर्थछवियां दूर-दूर तक जाती हैं।' सत्यकाम ने भी 'फिर भी कुछ रह जाएगा' को आधार बनाकर तिवारीजी की काव्ययात्रा का सम्यक मूल्यांकन किया है। पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु' ने अपनी प्रकृति के अनुकूल तिवारी की कविताओं को देखा है।

तिवारीजी का कवि ही उनके आलोचक को निर्मित करता है, इसीलिए वे कविता में जिस स्वाधीनता का परचम लहराते दिखाई देते हैं, आलोचना में भी स्वाधीन विवेक के हिमायती हैं और उन्होंने कहा भी है कि 'छोटी कसौटियों से बड़ी आलोचना नहीं लिखी जा सकती।' वैचारिक स्वाधीनता उनके आलोचनात्मक प्रतिमान का मूल है। उनकी मान्यता है कि साहित्य को हीनताबोध, इतिहास के आतंक, विचारधाराओं की संकीर्णताओं और तानाशाही की कट्टरता से मुक्त होना चाहिए। इसीलिए वे संवेदना को रचना के मूल्यांकन की मूल कसौटी मानते हैं और इसी आधार पर उन्होंने साहित्य के महत्त्वपूर्ण विमर्शों—दलित एवं स्त्री-विमर्श पर बेखौफ होकर लिखा है। तिवारीजी ने राजनीति एवं साहित्य के सरोकार, लेखक संघों की राजनीति, साहित्य की बीसवीं शताब्दी कविता में जनाकांक्षा, कविता की संप्रेषणीयता जैसे मुद्दों पर गंभीर विमर्श करते हुए बौद्धिक समाज के भटकाव को भी रेखांकित करते हैं। तिवारीजी का मानना है कि 'साहित्य हमें उस नीति की ओर ले जाता है, जिसे धर्म छोड़ चुका है, उस संवेदनशीलता की ओर ले जाता है, जिसे इतिहास ग्रस चुका है, उस अध्यात्म की ओर ले जाता है, जिसे धर्म छोड़ चुका है।' ऐसे में कहना पड़ेगा कि तिवारीजी व्यापक सरोकारों के लेखक हैं। ओम निश्चल ने संपादकीय में सही लिखा है कि 'यों देखने पर लगता है कि विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का आचरण प्रगति विरोधी है, वे परंपरा की, सनातनता की बात करने वाले लेखक की तरह दिखते हैं—विमर्शों के विरोधी और दलित साहित्य के आलोचक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, कवि, आलोचक होने के साथ ही साथ यात्रावृत्त लेखक एवं संस्मरण लेखक भी हैं। 'आत्म की धरती', 'अंतहीन आकाश' उनके यात्रावृत्तांत हैं तो 'एक नाव के यात्री' संस्मरण, जिसे पढ़कर तिवारीजी की व्यापक सृजनधर्मिता को समझा जा सकता है। प्रकाश मनु का लेख महत्त्वपूर्ण है। विश्वनाथजी ने दस्तावेज का संपादन भी किया है, जिसके अब तक 113 अंक प्रकाशित हैं। तिवारीजी के संपादकीय व्यक्तित्व पर आनंद प्रकाश दीक्षित, अरुणेश मीरन, विजयबहादुर सिंह आदि ने लिखा है और सभी ने तिवारीजी की निष्ठा, विवेक, अध्यवसाय, गहन चिंतन, निडर व्यक्तित्व एवं स्पष्टवादिता को सभी ने रेखांकित किया है।

समग्रतः 522 पृष्ठों में तिवारीजी के व्यक्तित्व, कविकर्म, आलोचना कर्म, संपादन, संस्मरण लेखन के मूल्यांकन के बहाने यह किताब समकालीन हिंदी साहित्य की विविध विधाओं की तस्वीर भी पेश करती है। इसके पहले भी विश्वनाथ प्रसाद तिवारी पर केंद्रित दो आलोचना पुस्तकें—स्वप्न और यथार्थ के कवि (सं. अरविंद त्रिपाठी) और कविता सबसे सुंदर सपना है (लेखक : ए. अरविंदाक्षन) आ चुकी हैं, किंतु यह पुस्तक इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि यहां तिवारीजी के संपूर्ण व्यक्तित्व का मूल्यांकन है। ओम निश्चल का संपादकीय इस किताब का प्राण तत्त्व है।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी : साहित्य का स्वाधीन विवेक/संपादक : ओम निश्चल/नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2/35, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 750

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर-273009

लोकतंत्र में कहानी

नवलकिशोर

युवा आलोचकों—विशेषतः कहानी-समीक्षकों में पल्लव एक उभरता नाम है। 'बनास' पत्रिका के दो अंकों (1) स्वयंप्रकाश, (2) काशीनाथ सिंह के जरिए उसने अपनी कथा-अभिरुचि का उत्तम परिचय दिया है। इनके साथ 'मीरा' पर एक नए नजरिए से पुस्तक संपादित कर वह परंपरा के प्रति भी अपनी संलग्नता व्यक्त कर चुका है। इस पृष्ठभूमि को जानने वाला पाठक उसकी इस पहली स्वतंत्र पुस्तक 'कहानी का लोकतंत्र' को स्वागत भाव से तो लेगा ही और पढ़ने पर उसे कुछ पठन-सुख मिला तो वह लेखक को साधुवाद भी सहज ही देना चाहेगा। इस किताब की समीक्षा के फिलवक्त मैं अपने को एक ऐसे ही पाठक के रूप में पाता हूं—पहली पुस्तक के लिए अतिरिक्त अभिशंसा के साथ। हर उस युवा लेखक की प्रथम कृति आलोचना के स्वराकाश में एक ताजा धुन की तरह होती है, जिसके पास गुनगुनाने के लिए एक अलग-सा राग होता है। कहानी की इधर की चर्चा-परिचर्चाओं में सार्थक हस्तक्षेप के लिए इस लेखक के पास कुछ ऐसे मंतव्य अवश्य हैं, जो युवा समीक्षकों के नए समुदाय में उसे थोड़ा अलग खड़ा करते हैं।

सबसे बड़ी बात तो यही कि वह उस चर्चा में शामिल नहीं है, जो विचारधारा-निरपेक्षता को युवा-कहानी का खास गुण बताती है। इसके विपरीत पल्लव जन-प्रतिबद्धता का कायल है। जैसा कि मैं जानता हूं, उसका वैचारिक ही नहीं, क्रियात्मक जुड़ाव राजनीतिक रूप में वाम पक्ष के साथ है और यही उसकी पक्षधरता को निर्धारित करता है, लेकिन इस शर्त के साथ कि 'सार्थक कहानी वही होगी, जिसमें विचारधारा रचना के भीतर बिना कोलाहल के उपस्थित हो और दृष्टि प्रदान करे।' उसकी प्रतिबद्धता अपने को सिद्ध करने के लिए प्रहारार्थ विरोधी-लेखन को नहीं तलाशती, लेकिन अपनी वैधता के लिए तटस्थता का दिखावा भी नहीं करती। कहानी-लेखन में यथार्थ के विविध रंग और विविध विधियों के प्रति अपने स्वीकार-भाव को घोषित करते हुए उसने अपनी किताब को 'कहानी का लोकतंत्र' नाम अवश्य दिया है, लेकिन इस लोकतंत्र के भीतर अपने पक्ष में मताभिव्यक्ति वह दृढ़ता और स्पष्टता से करता है।

कहानी-प्रसंग की शुरुआत वह 'कहानी के इस ओर' लेख से करता है। यह लेख भूमिका जैसा है। 'इस ओर' से उसका अभिप्राय उस तरफ की कहानियों से है, जिनका जिक्र अक्सर चर्चाओं में नहीं होता, ''कहानी की नई चर्चाओं में खास तरह के शहरी उच्च-मध्यवर्ग के जीवन की रंग-बिरंगी तस्वीरों को जगह मिली है, लेकिन भारत के संपूर्ण सामाजिक जीवन का यथार्थ इन तस्वीरों में आने से रह जाता है...अपवाद-स्वरूप गांवों की कहानियां लिख लेना एक बात है, वहां के धूल-धक्कड़

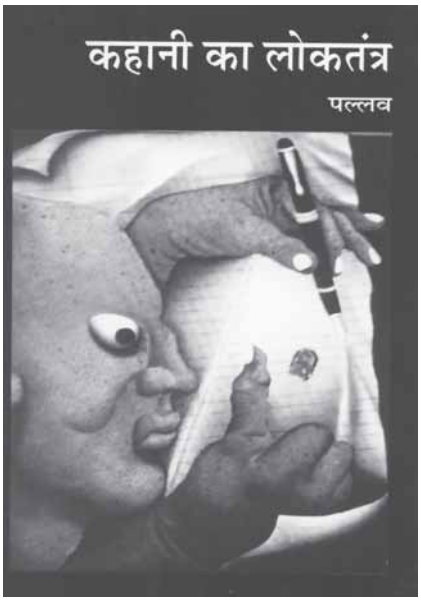

को फांकते हुए कहानी लिखना दूसरी बात। प्रायोजित चर्चाओं में गांव की अनुपस्थिति को रेखांकित किया जाना जरूरी है।'' इस उद्देश्य के लिए वह जिन अचर्चित, किंतु महत्त्वपूर्ण युवा कथाकारों और उनकी कहानियों को तीव्रालोक में लाना चाहता है, वे हैं—सत्यनारायण पटेल और चरण सिंह 'पथिक'। पटेल की 'पनही' के पूरण के श्रम और कौशल से गढ़ी जूतियों को भू-स्वामी पटेल जबरन सिर्फ सेर भर अनाज में खरीद लेना चाहता है, 'बता दी न अपनी जात, एक सेर अनाज कम पड़े तो क्या एक जोड़ी पनही का मण भर लेगा?' यह कहानी केवल दलित श्रमिक के शोषण का दस्तावेज होकर नहीं रह जाती, प्रतिरोध की पनपती चेतना को भी प्रकट करती है—सवर्ण 'पटेलों के छोरों' के डर से सब दलित भागते नहीं, वे अपने टापरों में लाठी-हंसियां, जो भी हथियार हैं, उन्हें लेकर मुकाबले के लिए तैयार हो जाते हैं। इस तरह यह कहानी गांव के सत्ता-समीकरण के नए यथार्थ को एक सशक्त कथारूप में ढालती होती है। 'पथिक' की कहानियों के बारे में पल्लव का कहना है कि वे गांव के ठीक बीच से आई हैं—वर्गीय चेतना की प्रतिनिधि रचनाएं बनकर। 'दंगल' कहानी का विशेष उल्लेख वह इसलिए करता है कि गांवों में होने वाले आशु-कविता के 'दंगल' अब जिस तरह सांप्रदायिकता और जातिवाद के दंगल बनते जा रहे हैं, यह कहानी उसे बखूबी बताती है। इन दो कहानीकारों पर कुछ विस्तार से चर्चा करने के साथ पल्लव ने 'इसी ओर के' उन कहानीकारों का भी स्मरण किया है, जो अब 'युवा' के दायरे में भले न आएं, लेकिन समाज के उपेक्षित तबकों की कहानियां लिखते जा रहे हैं—जैसे एस. आर. हरनोट, भवानी सिंह, भगवानदास मोरवाल, हरियशराय, कैलाश

बनवासी, महेश कटारे, पंकज मित्र, हरिओम, अरुण कुमार असफल। इन्हीं के बीच अभिषेक कश्यप की कहानियों पर भी एक अच्छी टिप्पणी दी गई है, लेकिन जैसा लेखक ने बताया है, वह कुछ अलग प्रकृति का लेखक है, इसलिए उसकी यहां चर्चा खपती नहीं। वैसे भी यह लेख दो खंडों तक ही रहता तो ज्यादा मुकम्मल होता। यह लेख भूमिका-लेख जैसा है और विशेष उल्लेखनीय इसलिए है कि यह लेखक की उस समीक्षा-दृष्टि को उजागर करता है, जिससे वह समीक्ष्य कहानियों पर विचार करता है। पुस्तक में बीस लेख हैं और सभी में आधारभूत रूप में यह नजरिया मौजूद है। इन लेखों को बिना उप-शीर्षकों के तीन भागों में विभाजित किया गया है। पहले और दूसरे भाग में छह-छह और तीसरे में आठ लेख रखे गए हैं।

पहले भाग के पहले लेख का जिक्र ऊपर हो चुका है। दूसरे लेख में उन कहानीकारों की रचना-विधि की प्रशंसा है, जो कहानी को पढ़ने से अधिक कहने-सुनने वाली विधा मानते हुए पाठकों को भागीदारी के लिए आमंत्रित करते रहते हैं। लेखक के अनुसार रमेश उपाध्याय, स्वयंप्रकाश, उदयप्रकाश और रघुनंदन त्रिवेदी (स्व.) में बेशक सामाजिक-राजनीतिक सरोकार अव्वल रहते हैं, पर उनकी कहानियां एक बड़े पाठक वर्ग तक पहुंचने में इसलिए सफल होती हैं कि उनकी बुनावट में रोचकता को पूरी तवज्जो दी गई है। सफल कहानी, दरअसल, उसे ही कहा जा सकता है, जो कला के पैमाने पर खरी उतरने के साथ पाठक को आकर्षित करने का गुण भी अपने में लिए हुए हो। तीसरे लेख में लेखक जयनंदन, कैलाश बनवासी, हरिचरणप्रकाश, प्रियदर्शन मालवीय और लोक बाबू की उन चर्चित कहानियों को लेता है, जो देश की नवउदारी अर्थनीति के कारण संकटग्रस्त किसानी की दुर्दशा के नए यथार्थ को उद्घाटित करती हैं। उसे लगता है कि ये कहानियां मानो 'गोदान' के इस कथन को ही आज दोहरा रही हैं—'थाना-पुलिस, कचहरी-अदालत सब है हमारी रक्षा के लिए, लेकिन रक्षा कोई नहीं करता। चारों तरफ लूट है। जो गरीब है, बेकस है, उसकी गर्दन काटने के लिए सभी तैयार रहते हैं। भगवान ना करे, कोई बेईमानी करे। यह बड़ा पाप है, लेकिन अपने हक और न्याय के लिए न लड़ना उससे भी बड़ा पाप है।'' मतलब आज का किसान हालांकि 'गोदान' के किसान की तरह ही बुरी हालत में है, पर अब वह चुप बैठने वाला नहीं रहा है। चौथे लेख में विजेंद्र अनिल की 'बैल', स्वयंप्रकाश की 'नैनसी का धूड़ा' और कैलाश बनवासी की 'बाजार में रामधन'—इन तीनों कहानियों पर विचार करते हुए वह जिस उपसंहार-कथन की ओर हमें ले जाता है, वह द्रष्टव्य है, ''न बैल को तिनका है, न किसान को रोटी, हां रास्ता है आत्महत्या का—आत्मघात का ×× तीनों कहानियां इस शोषण और हाहाकार का शोकगीत सुनाती हैं ×× न 'गोदान' अप्रासंगिक हुआ और न गाय-बैल खरीदने-पालने की आस ही पूरी हो पाई, प्रेमचंद से कैलाश बनवासी तक किसान की यह दुर्दशा है।'' पांचवें लेख में ओमप्रकाश वाल्मीकि के कहानी-संग्रहों-'सलाम' और 'घुसपैठिए' की समीक्षा है। पल्लव मैनेजर पांडेय के इस कथन से सहमति जताते हैं, 'दलित-साहित्य की भूमिका का महत्त्व केवल दलित समाज के विकास में ही नहीं, अपितु सवर्ण समुदाय को दर्पण दिखाते हुए उसे विकृति-मुक्त करने में भी है।' उसके अनुसार वाल्मीकि की कहानियां इस जरूरत को पूरा करती हैं और रचनात्मक मुठभेड़ को संभव बनाती हैं।

दूसरे भाग का पहला लेख महिला-कथाकारों की कहानियों से संबंधित है। इस लेख में मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, राजी सेठ, सुधा अरोड़ा और मैत्रेयी पुष्पा की कहानियों पर चर्चा के साथ तेलुगु कथाकार वोल्गा की कहानियों को भी, जो लेखक के मतानुसार हिंदी में भी प्रशंसित हैं, शामिल किया गया है। इन लेखिकाओं की कहानियों के बारे में लेखक उचित ही कहता है कि ये हमें स्त्री के दुःखों और संघर्षों को स्त्री की अपनी आवाज में समझा सकी हैं और हमारी मर्दवादी मदांधता को प्रबल चुनौती भी दे सकी हैं। इस लेख में अलग-अलग लेखिकाओं पर अलग-अलग समीक्षा के उपरांत एक उपसंहारात्मक टिप्पणी भी होती तो लेख बेहतर हो सकता था। साथ ही स्त्री-विषयक दो कहानियों को लेकर पुरुष-दृष्टि और स्त्री-दृष्टि पर तुलनात्मक विचार की अपेक्षा भी हिंदी में बनी हुई है—पल्लव चाहें तो जोरदार पहल कर सकते हैं। दूसरे लेख में कहानी के समकालीन परिदृश्य पर पुरानी पीढ़ी के सक्रिय कहानीकारों—अमरकांत, रमेश उपाध्याय, चंद्रकांता और सत्यनारायण की कहानियों के जिक्र के साथ एकाएक चर्चा में आए शैलेय की कहानियों का विशेष उल्लेख किया गया है। लेखक के अनुसार शैलेय की पहचान पहाड़ के जीवन-संघर्षों को अपनी कहानियों में फिर से खड़ा करने की कवायद से बनी है। कलाहीन होने का भ्रम देती उनकी कहानियां पहाड़ के साधारण जनों के जीवन में आ रहे निरंतर बदलावों और उलझते संबंधों का अनुभव सिद्ध चित्र दे पाने में बहुत सफल रही हैं।

तीसरे भाग के आठ लेखों में प्रत्येक में किसी एक ख्यात कहानी का पुनर्पाठ है। पहले में रघुनंदन त्रिवेदी की 'एक दिन रामबाबू झाड़ी लांघ जाएंगे', दूसरे में विद्यासागर नौटियाल की 'सोना', तीसरे में विजयदान देथा की 'दुविधा', चौथे में पंकज बिष्ट की 'टुंड्रा प्रदेश', पांचवें में स्वयंप्रकाश की 'पार्टीशन', छठे में कृष्णबलदेव की 'मेरा दुश्मन', सातवें में इस्मत चुगताई की 'घरवाली' और आठवें में प्रेमचंद की 'कफन' को विचारार्थ लिया गया है। इन सभी पर पल्लव ने ऐसी टिप्पणियां की हैं, जो उन्हें एक बहुत सजग पाठक-आलोचक के रूप में सामने लाती हैं और कहानियों के पुनर्पाठ की जरूरत बताती हैं।

प्रस्तुत किताब एक लेख-संकलन है, जिसमें कुछ लेखकों और कुछ कहानियों का बार-बार उल्लेख हुआ है, इसे दुहराव-दोष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा लेखकीय वक्तव्यों के लिए प्रमाणीकरण-आवृत्ति के रूप में ही हुआ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस पुस्तक के जरिए पल्लव युवा कथा-आलोचकों के बीच अपनी अलग पहचान बनाने में कामयाब हुए हैं। आशा की जानी चाहिए कि उनकी अगली किताब एक विषयबद्ध आलोचना-कृति होगी, जो उनकी इस पहचान को और गहराएगी। एक वरिष्ठ सह-बंधु के नाते उनके प्रति मेरी यह हार्दिक शुभाशंसा है।

कहानी का लोकतंत्र/पल्लव/आधार प्रकाशन प्रा. लि., एससीएफ 267, सेक्टर-16 पंचकूला-134113, हरियाणा/मूल्य : ` 250

च-6, उदयपार्क, सेक्टर-5, हिरणमगरी, उदयपुर, राजस्थान-313002 दूरभाष : (0294) 2465422, मो. 09351587096

अधूरा शोध अधूरी आलोचना

हरदयाल

जगदीश नारायण श्रीवास्तव की एक हजार पृष्ठों की दो खंडों में प्रकाशित पुस्तक आई है—'पूर्वी उत्तर प्रदेश का साहित्यिक परिदृश्य'। भूमिका-लेखक परमानंद श्रीवास्तव ने इसे 'इतिहास से अधिक अनुसंधान' माना है। निःसंदेह इसमें इतिहास भी है, अनुसंधान भी है और आलोचना भी, लेकिन सब आधे-अधूरे। श्रीवास्तवजी साहित्य-प्रेमी हैं और इसलिए अपने जनपदीय क्षेत्र गोरखपुर और पूर्वी उत्तर प्रदेश के जौनपुर, आजमगढ़, काशी, गाजीपुर, देवरिया, सुल्तानपुर, बस्ती, बलिया, कुशीनगर, सिद्धार्थनगर, पडरौना आदि के भूगोल, इतिहास और साहित्य का टुकड़ों में अध्ययन करते रहे हैं। इनसे संबंधित सूचनाएं और उन सूचनाओं पर अपनी टिप्पणियां नोट करते रहे हैं, लिखते रहे हैं और इन्हीं सबका संग्रह है प्रस्तुत पुस्तक। यह योजनाबद्ध तरीके से नहीं लिखी गई है, बल्कि घुणाक्षर न्याय से बन गई है।

पुस्तक के प्रारंभ में 'जड़ों को तलाशा' गया है। इस तलाश में ''गोरखपुर का जन्म, नदियां, झील, तालाब, बोलचाल की भाषा, लिपि और वर्णमाला, ऐतिहासिक-पौराणिक प्रतिमाएं, गोरखनाथ, सिद्धनाथ संप्रदाय, सन् 1857 की राज्यक्रांति, गोरखपुर की भूमिका, बलिया के ददरी में भारतेंदु का भाषण (भारत की उन्नति कैसे हो सकती है), गोरखपुर के उर्दू के हिंदू शायर, गोरखपुर में उर्दू पत्रकारिता, कैफी आजमी, गीताप्रेस, रामप्रसाद बिस्मिल जैसे अध्याय हैं।'' (भूमिका, पृष्ठ 7) इसके बाद पहले-दूसरे खंडों में काव्य, कथा-साहित्य, निबंध-साहित्य, नाटक, आलोचना, आत्मकथा-जीवनी-संस्मरण, हास्य-व्यंग्य, पत्र-पत्रिकाएं, भोजपुरी खंड और परिशिष्ट शीर्षकों के अंतर्गत पूर्वी उत्तर प्रदेश के साहित्य और साहित्यकारों को प्रस्तुत किया है। इस प्रस्तुति में प्रधानता तो साहित्यिक व्यक्तियों की है, लेकिन सैद्धांतिक-व्यावहारिक आलोचना से संबंधित कुछ लेख भी हैं; जैसे निबंध, अनुवाद की सृजनशीलता और हिंदी, पक्षधरता के दायरे में साहित्य की उपस्थिति, 16 दिसंबर, 1956 को गोरखपुर में पूर्वोत्तर रेलवे हिंदी समिति का उद्घाटन-समारोह, काशी नागरी प्रचारिणी सभा की दुर्दशा, आदि। इन लेखों में सूचनाओं की प्रधानता है।

हिंदी साहित्य के सामान्य पाठकों को और साहित्यिकों को भी इसमें कुछ ऐसी सूचनाएं भी मिलेंगी, जिन्हें 'नई सूचनाएं' कहा जा सकता है। जैसे गीता प्रेस, गोरखपुर की स्थापना और उसकी गतिविधियां या कैफी आजमी के संबंध में यह सूचना, ''कैफी आजमी यानी अख्तर हुसेन रिजवी का जन्म पूर्वी उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जनपद के मंझवा गांव के एक जमींदार परिवार में हुआ था। वे लखनऊ भेजे तो गए 'सुल्ताने दरबार' में मौलवी बनने के लिए, परंतु अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण वहां से निष्कासित कर दिए गए। वहीं वे प्रगतिशील लेखकों के संपर्क में आए। 1943 में वे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने। रूमानियत से भरी कैफी आजमी की कविताएं सामाजिक चेतना के रास्ते पर चल पड़ीं।'' (भाग-1, पृष्ठ 125) इस प्रकार की सूचनाएं उन्होंने अन्य रचनाकारों और संस्थाओं के संबंध में भी दी हैं। इन सूचनाओं की उपयोगिता असंदिग्ध है।

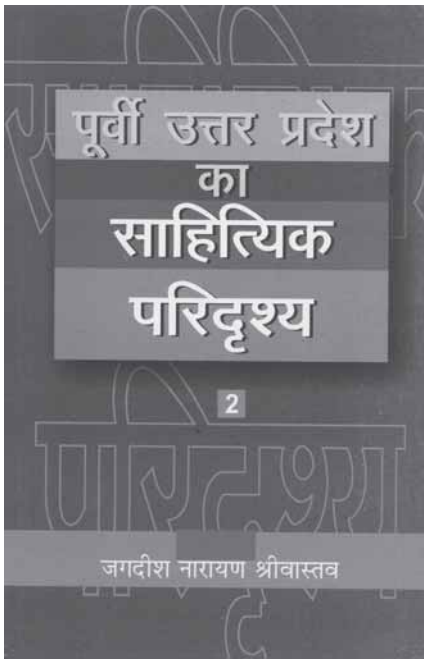

विधा के अनुसार विभिन्न खंडों में उन्होंने जिन रचनाकारों के संबंध में लिखा है, उनमें से अनेक हिंदी जगत के सुपरिचित नाम हैं, किंतु कुछ ऐसे भी हैं, जो एक सीमित दायरे से बाहर अपनी पहचान नहीं बना पाए हैं। उदाहरण के लिए, 'काव्य' खंड के भारतेंदु हरिश्चंद्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', हरिऔध, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', गुरुभक्त सिंह 'भक्त', जयशंकर प्रसाद, रायकृष्ण दास, श्यामनारायण पांडेय, अज्ञेय, शंभुनाथ सिंह, त्रिलोचन शास्त्री, रामदरश मिश्र, ठाकुर प्रसाद सिंह, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रामसेवक श्रीवास्तव, हरिहर द्विवेदी, विष्णुचंद्र शर्मा, ध्रुवदेव मिश्र 'पाषाण', केदारनाथ सिंह, परमानंद श्रीवास्तव, सुदामा पांडेय 'धूमिल', दूधनाथ सिंह, श्रीराम वर्मा, कमलेश, माधव मधुकर, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, गोरख पांडेय,नीलम सिंह, जितेंद्र श्रीवास्तव को उनके नाम से हिंदी-साहित्य में रुचि रखने वाला हर व्यक्ति जानता है; लेकिन इसी खंड में प्रस्तुत किए रामाधार त्रिपाठी 'जीवन', पं. विष्णुदेव द्विवेदी 'सुधाकर', शिवरत्न लाल, कामता प्रसाद 'रसविन्दु', सुधाविन्दु त्रिपाठी, संतशरण श्रीवास्तव,पवहारीशरण त्रिपाठी 'अनिल', गंगाप्रसाद भट्ट 'सुकांत', हृदयविकास पांडेय, विद्याधर द्विवेदी 'विज्ञ', हृदय चौरसिया आदि कवियों से कितने हिंदी पाठक/साहित्यिक परिचित हैं। यही स्थिति अन्य विधाओं के

साहित्यिकों की है।

समीक्ष्य पुस्तक में रचनाकारों को यदि उनको दी गई पृष्ठ संख्या के आधार पर उनके महत्त्व का मूल्यांकन किया जाए, तब तो बड़ी गड़बड़ हो जाएगी। उदाहरण के लिए, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' या गुरुभक्त सिंह 'भक्त' आदि कई कवियों को केवल एक पृष्ठ में निपटा दिया गया है जबकि पं. विष्णुदेव द्विवेदी 'सुधाकर' को तीन पृष्ठ, गिरिधर 'करुण' को छह पृष्ठ, देवेंद्र कुमार 'बंगाली' को अठारह पृष्ठ दिए गए हैं। क्या इसका यह अर्थ समझा जाए कि देवेंद्र कुमार 'बंगाली', जगन्नाथदास रत्नाकर या गुरुभक्त सिंह 'भक्त' की तुलना में बहुत बड़े कवि हैं? इसी तरह सूचनाओं के मामले में अनेक त्रुटियां हैं।

कुछ रचनाकारों की जन्मतिथियां, जन्म-स्थान और यदि निधन हो गया है तो निधन-तिथि/निधन वर्ष दिया है, कुछ का नहीं दिया है। उदाहरण के लिए, जितेंद्रनाथ पाठक का जन्म-स्थान तो दिया है, लेकिन जन्म-तिथि नहीं दी है, नरसिंह श्रीवास्तव, महेंद्र शंकर, कमलेश आदि का न जन्म-स्थान दिया है, न जन्म-तिथि। श्रीवास्तवजी चाहते तो ये सूचनाएं आसानी से प्राप्त कर सकते थे। इसी प्रकार रचनाकारों के साहित्य पर विचार करते समय कुछ की कुछ रचनाओं का प्रकाशन-वर्ष दिया है, कुछ का नहीं। शोध, साहित्येतिहास और आलोचना, तीनों की दृष्टि से रचनाओं की प्रकाशन-तिथियों/पुस्तकों के प्रकाशन-वर्ष का विशेष महत्त्व है। उदाहरण के लिए, विभूतिनारायण राय के 'चार छोटे-छोटे उपन्यासों'—'घर', 'शहर में कर्फ्यू', 'किस्सा लोकतंत्र' और 'तबादला' की चर्चा की है, लेकिन प्रकाशन-वर्ष किसी का नहीं दिया है। इन उपन्यासों की आलोचना में एक-दो निर्णायात्मक वाक्यों को छोड़कर उपन्यासों के कथ्य का सारांश दे दिया है। जैसे—

''विभूतिनारायण राय का किस्सागो 'तबादला' में अपने चरम पर पहुंचा है। एक इंजीनियर कमलाकांत वर्मा के तबादले को लेकर पूरी कथा बुनी गई है। सार्वजनिक निर्माण विभाग द्वारा मेले के लिए बजट पास हो गया है। सारी मारामारी मलाई खाने के लिए हो रही है। अधिशासी अभियंता की कुर्सी पर कब्जा जमाने के लिए की गई जोड़तोड़ और गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा का घिनौना खेल चलता है। उसी खेल में तमाम परतों को खोलने की कोशिश में उपन्यास की रचना हुई है। 'तबादला' में विभूति नारायण राय की व्यंग्यधर्मी चुटीली भाषा इस उपन्यास की जान है।'' (खंड-II, पृष्ठ 138) यह आलोचना अधूरी है। आलोचक को यह बताना चाहिए था कि किस्सागोई की कौन-सी विशेषताएं इसकी किस्सागोई को चरम पर पहुंचाती हैं और 'व्यंग्यधर्मी चुटीली भाषा' का भी एकाध उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए था।

दरअसल जगदीशनारायण न अच्छे शोधकर्ता हैं, न अच्छे साहित्येतिहासकार हैं और न ही अच्छे आलोचक हैं। जगदीशनारायण श्रीवास्तव ने आलोचना-खंड में अपने संबंध में ग्यारह पृष्ठ लिखे हैं, उससे हमें पता चलता है कि वे कवि हैं और आलोचक भी। इन पृष्ठों की सामग्री से हमें पता चलता है कि ''वे सामंतवादी-पूंजीवादी रुझानों के खिलाफ हैं और प्रतिपक्ष की रक्षा की वकालत करते हैं।'' (खंड-II, पृष्ठ 257) हमें पता चलता है कि उनका झुकाव वामपंथी है, लेकिन उनकी आलोचना में उनका वामपंथी झुकाव उभरकर सामने नहीं आया है। कारण, उनमें गंभीर और विस्तृत विश्लेषण की क्षमता का अभाव है। आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति भी उनमें है। यदि यह प्रवृत्ति न होती तो वे स्वयं यह न लिखते—

''दिनांक 1 व 2 अगस्त, 1981 को सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ में प्रेमचंद शताब्दी समारोह के अवसर पर आयोजित लेखक सम्मेलन में मैंने और प्रसिद्ध साहित्यकार अजित कुमार ने अपना-अपना प्रवर्तन लेख पढ़ा।...प्रसिद्ध उपन्यासकार जैनेंद्र की अध्यक्षता में हो रहे इस सम्मेलन में उपस्थित श्रीलाल शुक्ल, गिरिराज किशोर, शानी तथा कई अन्य उपन्यासकारों, कथाकारों ने अपने-अपने ढंग से सफाई दी। संचालक परमानंद श्रीवास्तव भी उनका असफल साथ देते रहे, पर इन लोगों की बात बनी नहीं, जबकि मेरे लेख पर देश के विभिन्न प्रदेशों से आए साहित्यकारों ने मुझे बधाइयां दीं।'' (खंड-II, पृष्ठ 258)

श्रीवास्तवजी ने जो उद्धरण दिए हैं, उनकी शुद्धता पर भी संदेह उत्पन्न होता है। दूसरे खंड के 'निबंध' शीर्षक लेख में उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध-संग्रह 'चिंतामणि' (पहला भाग) के 'निवेदन' से

उद्धरण दिया है, ''इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ संदेश, यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, परंतु हृदय तत्त्व को साथ लेकर...बुद्धिपथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहा है।'' (खंड-II, पृष्ठ 143) यह उद्धरण त्रुटिपूर्ण है। इसका शुद्ध रूप यह है, ''इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर।...बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहा है।'' (चिंतामणि, पहला भाग, निवेदन, संस्करण 1956)

इसमें कोई संदेह नहीं कि जगदीश नारायण श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक 'पूर्वी उत्तर प्रदेश का साहित्यिक परिदृश्य' के लिए बड़ी मेहनत से सामग्री संकलित की है, लेकिन उस सामग्री का पूरी सावधानी और विवेक के साथ ठीक-ठीक उपयोग करने में वे अनेकत्र स्खलित भी हुए हैं। उनकी पुस्तक की उपयोगिता असंदिग्ध है, लेकिन उसका उपयोग करने वालों को सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

पूर्वी उत्तर प्रदेश का साहित्यिक परिदृश्य (दो खंड)/जगदीश नारायण श्रीवास्तव/अमरसत्य प्रकाशन, 109, ब्लाक बी, प्रीत विहार, दिल्ली-110092/ मूल्य : ` 1200

एच-50, पश्चिमी ज्योतिनगर, पो. गोकुलपुरी, दिल्ली-110094, मो. 09871328269

दोहरे शोषण से मुक्ति की छटपटाहट

प्रीति सागर

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में वैश्विक और भारतीय पटल पर कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे सोवियत रूस का विघटन, भूमंडलीकरण, उदारवाद, उत्तर आधुनिकता आदि। इन सबका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। अस्सी के दशक में हिंदी साहित्य में वर्णगत विशेषण को आधार बनाकर एक नए साहित्य ने दस्तक दी, जिसे कालांतर में दलित साहित्य के रूप में पहचान और प्रतिष्ठा मिली। दलित साहित्य में लगभग सभी प्रमुख साहित्यिक विधाओं में साहित्य रचा जा रहा है, लेकिन आत्मकथा इनमें प्रमुख है। हिंदी दलित साहित्य में आत्मकथा लेखन की शुरुआत मराठी प्रभाव से हुई। मराठी दलित आत्मकथाओं की तर्ज पर हिंदी में भी दलित आत्मकथाएं लिखी जाने लगीं। भगवानदास की 'मैं भंगी हूं', मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', माताप्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन', सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' और 'संतस', श्यौराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', तुलसीराम की 'मुर्दहिया' आदि में सदियों से दलित, पीड़ित लोगों की मौन व्यथा को मुखरित किया गया है, लेकिन हिंदी में दलित स्त्रियों की आत्मकथाओं की परंपरा क्षीण रही। समाज के निचले पायदान पर स्थित दलितों को साहित्य में अपनी बात कहने का अवसर देर से मिला, लेकिन दलित स्त्रियों ने यह अधिकार और भी देर से पाया। सन् 1999 में परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली से कौसल्या नंदेश्वर बैसंत्री ने अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' के नाम से प्रस्तुत की थी, उसके ठीक दस साल बाद सन् 2009 में वाणी प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित 'शिकंजे का दर्द' नाम से सुशीला टाकभौरे ने अपनी आत्मकथा प्रस्तुत की है।

एक ''स्त्री की आत्मकथा समाज और परिवार की उन भीतरी सच्चाइयों से साक्षात्कार है, जिनकी चुभन जूते की कील की तरह सिर्फ पहनने वाला ही जानता है।'' (बेजुबानी जुबान हो जाए...राजेंद्र यादव, पृ. 16, कथा जगत की बागी मुस्लिम औरतें, संपादक राजेंद्र यादव) राजेंद्र यादव का यह कथन सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा के लिए बिल्कुल सटीक है। यह आत्मकथा जीवन के तथ्यों और घटनाओं का ब्यौरा भर नहीं है वरन् भारतीय समाज के दो महत्त्वपूर्ण आधार स्तंभों—जाति-व्यवस्था और पितृसत्तात्मक व्यवस्था की व्याख्या और पड़ताल है। इन दोनों व्यवस्थाओं ने दलित स्त्री के निजी, सामाजिक एवं सार्वजनिक जीवन को प्रभावित कर उन्हें कितना कुंठित किया है, इसको समझने के लिए यह आत्मकथा महत्त्वपूर्ण है। इस आत्मकथा में समाज में संवाद स्थापित करते हुए कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए हैं और भारतीय समाज में दलित स्त्री एवं उसके समाज की यथार्थ तस्वीर एक स्त्री की दृष्टि से सामने लाने की कोशिश की गई है। सुशीला की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' दलित होने के कारण जीवन के हर क्षेत्र में जूझने, सम्मानजनक जीवन जीने का अधिकार पाने की कोशिशों का विवरण तथा वैवाहिक जीवन में पति से प्राप्त पीड़ा और उसी पीड़ा में जिजीविषा तलाशने की कोशिश का शपथपत्र है। सुशीला की जीवन-यात्रा का यह बयान उनके भावात्मक एवं सांसारिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को उभारते हुए, दलित स्त्री के मन, सोच, अनुभूति और अस्मिता के विविध पहलुओं तक विस्तृत होता जाता है। अपनी इस कथा में सुशीला ने नानी और मां का जीवन, अपने बचपन और युवावस्था की कतिपय छवियां तथा सामाजिक कार्यकर्ता और शिक्षक पद पर कार्यरत व्यक्ति की पत्नी बनने के बाद वैवाहिक जीवन के कटु अनुभवों को भी प्रकट किया है। लेखिका के जीवनानुभवों के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक समाज की गतिविधियां भी दर्ज हुई हैं।

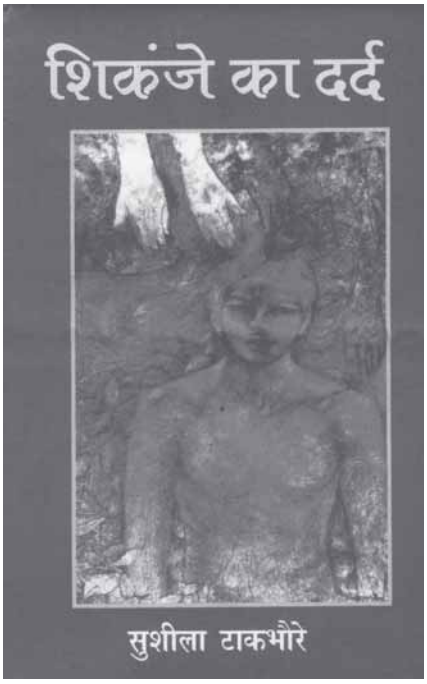

शिकंजे का दर्द तीन पीढ़ियों की कथा है, पहली पीढ़ी सुशीला की नानी की पीढ़ी है, जो अपनी स्थितियों में किसी तरह जीती रही। वहां प्रतिकार का लेश भी नहीं है, दूसरी पीढ़ी की मां है, जो अपनी स्थिति से असंतुष्ट है तथा सचेत होने के कारण बच्चों को शिक्षित करने के प्रति सजग है, तीसरी पीढ़ी सुशीला की है, जो शिक्षित और सेवारत होते हुए भी सम्मानपूर्वक जीवन जीने के अधिकार के लिए संघर्षरत है। 'शिकंजे का दर्द' उस शिक्षित महिला की गहन पीड़ा है, जो जाति भेद के दंशों से और पितृसत्ता के कोड़ों से फूट पड़ी है, ''मेरा दर्द उस शिक्षित, सम्मानित

दलित महिला का दर्द है, जो पी-एच.डी. प्राप्त कॉलेज की प्राध्यापिका होने के बाद भी जाति के रोजगार के नाम से जानी जाती है। मेरी आत्मकथा मेरी वेदना का दस्तावेज है।'' (शिकंजे का दर्द, मनोगत, पृ. 8) यह एक ऐसी स्त्री का बयान है, जो दुःख और कष्टों से भरे जीवन को जीते हुए कभी पराजित नहीं हुई। मध्य प्रदेश के बानापुर में जन्मी सुशीला का बचपन, गरीबी, सामाजिक उपेक्षा और शिक्षा प्राप्ति के लिए संघर्ष में बीता। बेमेल विवाह के बाद पति और ससुराल पक्ष से अनेक कष्ट पाते हुए भी लेखिका ने उच्च शिक्षा प्राप्त की तथा समाज की रुग्ण और अंध मानसिकता के खिलाफ अलख जगाने की कोशिश की। अपनी कथा के माध्यम से सुशीला ने दलित महिलाओं के उत्पीड़न और संघर्ष को बहुत प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किया है। आत्मकथा के शीर्षक के संबंध में लेखिका लिखती हैं, ''आत्मकथा लिखते समय मैं वेदना-संवेदना की कटु अनुभूतियों से बाहर नहीं निकल सकी। शिकंजे की बात कहना अधूरा लगा, शिकंजे का दर्द याद आता रहा। शिकंजा यानी पंजा, जिसकी जकड़न में रहकर कुछ कर पाना कठिन हो।'' (वही, पृ. 5) लेखिका को जीवन भर कई शिकंजों में कैद रहना पड़ा। उनका निष्कर्ष है, ''नारी किसी भी जाति धर्म की हो, वह कष्टों से घिरी होती है।'' (वही, पृ. 7) 'शिकंजे का दर्द' का सार बताती हैं ये पंक्तियां, ''शिकंजे का दर्द में संताप है दलित होने का, स्त्री होने का...जिस देश में वर्णभेद, जातिभेद की कलुषित परंपराएं हैं, वहां दलित स्त्री शोषण की व्यथा और भी गहरी हो जाती है...शिकंजे का दर्द लिखने का उद्देश्य दर्द देने वाले शिकंजे को तोड़ने का प्रयास है।'' (वही, पृ. 7) वास्तव में 'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा एक व्यक्ति के साथ-साथ स्वातंत्र्योतर भारतीय सामाजिक जीवन का यथार्थ और पड़ताल भी है। यह एक ऐसा समाज है, जहां जातिगत भेदभाव एवं अस्पृश्यता अब भी कायम है।

स्त्री चाहे किसी भी क्षेत्र में अपनी विशिष्ट पहचान बना चुकी हो, उसकी अपनी पहचान से परे वह केवल एक स्त्री है और दलित स्त्री के आगे तो 'दलित' विशेषण भी जुड़ा है, इसलिए दलित से संबद्ध सभी सामाजिक वर्जनाएं झेलना भी दलित स्त्री की नियति बन जाती है।

स्कूल में अध्यापकों, कर्मचारियों एवं सहपाठियों से उपेक्षा ही मिलती, ''सबके मन में मेरे लिए एक निश्चित दूरी थी। मैं नहाकर साफ-सुथरे कपड़े पहनकर स्कूल जाती थी, फिर भी स्कूल के बच्चों, अध्यापकों और चपरासी के लिए अछूत ही थी...मैं देखती थी, सवर्ण घरों के स्कूल से लौटे बच्चों पर घर के बाहर ही पानी छिड़क दिया जाता था।'' (वही, पृ. 18-19) संवैधानिक प्रावधानों के कारण अछूतों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार तो मिल गया, लेकिन वर्ण-व्यवस्था के अलग-अलग पायदानों पर प्रतिष्ठित लोगों द्वारा दलितों को निरंतर उनके यथार्थ और हैसियत का अहसास कराया जाता है। ''मेरी कक्षा में एक सुशीला जैन थी। हाजिरी लेते समय मुझे सुशीला हरिजन पुकारा जाता। तब मुझे अपनी जाति का आभास होता था...उस समय यह शासकीय आदेश था, किसी अछूत बच्चे को उनकी जाति के नाम से न पुकारकर हरिजन कहा जाए। 'हरिजन' शब्द सुनकर ज्यादा शर्म आती थी।'' (वही, पृ. 47) यही अपमान, उपेक्षा और व्यवस्था के प्रति आक्रोश दलितों के शिक्षा से पलायन का कारण भी बनता है, सुशीला की मझली बहिन के शिक्षित न हो पाने के कारणों में घर के काम और छोटे भाई-बहिनों की देखभाल की जिम्मेदारी ही नहीं वरन् ''स्कूल में उपेक्षा, अपमान और बात-बात में मिलने वाली सजा के कारण यह चौथी कक्षा से आगे नहीं पढ़ सकी।'' (वही, पृ. 16)। जाति-व्यवस्था के विरुद्ध दलितों के आक्रोश को कुचलकर उन्हें यथास्थिति में रहने के लिए मजबूर किया जाता है। सुशीला ने अपने भाई का उदाहरण प्रस्तुत किया है, ''मैट्रिक होशंगाबाद के 'नर्मदा महाविद्यालय' के विज्ञान विभाग में एडमिशन करवाया। कॉलेज के लड़कों को पता चला, शंकर लाल घांवरी किस जाति का है? रैगिंग के बहाने उन्होंने शंकर को बहुत सताया। शंकर भैया बहुत परेशान हो गए, तब उन्होंने कॉलेज के लड़कों को बहुत पीटा। क्या गलत किया था? एक परंपरा को तोड़ा था। हमेशा हम ही मार क्यों खाते रहें? हम भी उन्हें मार सकते हैं, मगर यह अपराध माना गया। इसके बाद वे कॉलेज में नहीं रह सके थे। अपने घर बानापुर लौट आए। वे कभी पछताते थे, कभी अपने भविष्य के लिए रोते थे। मां, पिताजी और नानी उसके लिए कुछ नहीं कर सके थे, क्योंकि शंकर ने दुस्साहस के साथ परंपरा को तोड़कर सवर्ण लड़कों को पीटा था। कॉलेज के प्राध्यापक और प्राचार्य सभी उससे खफा थे। शंकर की शिक्षा, उसका भविष्य उससे छीन लिया गया। तब वे अकेले क्या करते? हताश होकर रोजगार की तलाश में भटकना पड़ा। अंत में होशंगाबाद एस. पेपर मिल के क्वार्टर की पुताई का काम करने लगे।'' (वही, पृ. 80-81) सुशीला ने भी ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख किया है, जहां बार-बार उसे उसकी जाति का अहसास कराया गया, ''बरामदे से मैंने देखा और सुना, पड़ोसन भिखारी से हमारे घर की ओर इशारा करके कह रही थी, ''महाराजजी इस घर की भिक्षा नहीं लेना। यहां जमादारन रहती है।'' (वही, पृ. 166) ऐसे अनगिनत प्रसंगों ने सुशीला को यह मानने के लिए विवश कर दिया कि जाति कभी नहीं जाती।

इस जातीय उत्पीड़न के साथ दलित स्त्री का दूसरा शोषण पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा किया जाता है। एक सामान्य दलित स्त्री का जीवन बचपन से ही यातनामय होता है। बचपन से ही उस पर कई बंदिशें और बोझ डाल दिए जाते हैं जैसे घर के कामों में हाथ बंटाना, छोटे भाई-बहिनों को संभालना आदि। दलित स्त्रियों के मार्ग में एक बाधा है; वह सामाजिक मानसिकता, जो स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व को नकारती है और विवाह को जीवन का लक्ष्य तथा ससुराल को ही उसका वास्तविक घर घोषित करती है। उनके व्यक्तित्व का गढ़न भी ऐसे किया जाता है, जिससे वह हर परिस्थिति से निभा लें।'' लड़कियों से कहा जाता, ''अभी नखरे बता रही है, बाद में पराए घर (ससुराल) जाएगी, तब कैसी करेगी? मानो लड़कियों को कष्ट और दुःख की भट्टी में पका-पकाकर कष्ट सहने के लिए तैयार किया जाता हो।'' (वही, पृ. 113-114) ''मुझे एक आदर्श लड़की के रूप में ढालने का उनका ढांचा सदियों पुराना था। मैं लड़की हूं, इसलिए मुझ पर अनेक बंदिशें लगाई गईं—हँसो मत, गाओ मत, बोलो मत, हर बात की मनाही थी। किसी बात का उल्टा जवाब, नकारात्मक या विरोधी जवाब नहीं देना, नए अनजान लोगों से अकेले में नहीं मिलना, अकेले में कभी भी किसी

अनजान लड़के या पुरुष से बातें नहीं करना, अपनी नजरें हमेशा नीचे रखना, झुककर चलना, तर्क-वितर्क नहीं करना, ऐसी अनेक बातें थीं, जो प्रतिदिन के आदेश और आज्ञा के रूप में आदत बन गई थीं।'' (वही, पृ. 111) वैवाहिक जीवन में पदार्पण करते ही सुशीला सामाजिक कुरीति, बेमेल या अनमेल विवाह का शिकार हुई। 6 मार्च, 1974 को सुशीला का विवाह नागपुर के सुंदरलाल टाकभौरे से हो गया। दोनों की उम्र में लगभग बीस वर्ष का अंतर था, हालांकि सुशीला ने इसे अपना भाग्य समझकर स्वीकार कर लिया, लेकिन एक सामान्य पति-पत्नी में जो प्यार होता है, उसकी कसक सुशीला के मन में कई बार उठी। ''रिक्शे में किसी दंपत्ति को बहुत नजदीक बैठे देखती, उन्हें कंधे या पीठ पर हाथ रखे देखती तो मन में हूक जैसी उठती थी। मेरे पति मेरे साथ इतने नजदीक क्यों नहीं रहते? वे मुझसे प्यार का ऐसा व्यवहार क्यों नहीं करते? इसका मुझे दुःख लगता था। टाकभौरेजी मेरे साथ हमेशा दूरी रखते थे, जैसे हम पति-पत्नी नहीं, अपरिचित दो लोग एक साथ रहने लगे हैं।'' (वही, पृ. 153) सुशीला की प्रतिभा और योग्यता का ससुराल में अपने स्वार्थ के लिए दोहन किया गया। उसे बी.एड. करवाया गया ताकि मायके में ही रहने वाली विवाहित ननद के परिवार का भरण-पोषण किया जा सके। बी.एड. करने के बाद भी सुशीला को पति के दबाव में मातृसेवा संघ में 150 रुपए प्रतिमाह की नौकरी करनी पड़ी। बाद में शिक्षिका के पद पर कार्यरत होने पर भी घर में मान-सम्मान नहीं मिला। सुशीला लिखती है, ''पति का प्यार और ससुराल का सुख-संसार मेरे लिए सपना बनकर रह गए थे।'' (वही, पृ. 152) परिवार और समाज में पुरुष के बरक्स स्त्री का दोयम दर्जा सामाजिक मनोभूमि में रूढ़ हो चुका है। इसलिए स्त्रियों की प्रतिभा और पहचान प्रायः पुरुषों के लिए ग्रंथि बन जाती है और पुरुष द्वारा स्त्री को उसकी औकात याद दिलाने या मानसिक रूप से दिवालिया बनाने का सिलसिला शुरू हो जाता है। सुशीला भी पति एवं ससुराल पक्ष द्वारा प्रताड़ित की गई। सुशीला की आत्मकथा में घरेलू हिंसा के अनगिनत प्रसंग हैं, ''मेरे साथ घर में मार-पीट, गाली-गलौज सब कुछ हुआ, बाल पकड़कर खींचना, लातों से मारना, गर्दन पर मुक्के बनाकर मारना, पीठ पर घूंसे मारना, मैंने सब कुछ सहा। बेंत के निशान कई दिनों तक मेरे शरीर पर रहते थे।'' (वही, पृ. 196) सुशीला के जीवन की विडंबना देखिए कि, ''जो संघर्ष घर से बाहर, दूसरों के साथ करना पड़ा, वैसा ही संघर्ष घर में अपनों से भी करना पड़ा।'' (वही, पृ. 207) सुशीला का दर्द यह था कि उनकी इच्छा का ससुराल में कोई मान नहीं था, बल्कि यह कहना ठीक होगा कि वहां उसकी इच्छा को पूछने वाला ही कोई नहीं था। सुशीला लिखती हैं, ''मैं दो-दो घंटा बरामदे में अकेली चुपचाप रोती रहती। दुःख के कारण खाना नहीं खाती। ननद कमरे में अपने बच्चों के साथ खाती रहती। हँसती-गाती रहती, आराम करती रहती। मां अपनी बेटी को अच्छे से खिलाती, उसके बच्चों को संभालती। मुझे कोई नहीं पूछता था कि मैं क्यों रो रही हूं, मुझे क्या दुःख है। मैंने खाना क्यों नहीं खाया?'' (वही, पृ. 146) आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने पर भी सुशीला के कमाए धन को खर्चने का अधिकार उसके पति ने अपने पास रखा। वे लिखती हैं, ''उन्होंने यह नीति अपना ली थी—अपने वेतन का हिसाब कभी नहीं बताते थे, मेरा वेतन पूरा ले लेते थे, मुझे पता ही नहीं चलता, कहां क्या खर्च हो रहा है। वे चाहते थे, मैं अपना वेतन हमेशा उन्हें देती रहूं, कभी कोई हिसाब न मांगूं—ऐसा न होने पर मैं घर में हिंसा का शिकार बनती। छोटी-सी बात होते ही छड़ी उठा लेते, वे छड़ी हमेशा छिपाकर रखते थे।' (वही, पृ. 196) और ''मेरी तनख्वाह लेने कामठी सेंट्रल कोआपरेटिव बैंक टाकभौरेजी ही जाते थे...मैं प्रतिदिन उनसे बस किराए के पैसे मांगती थी।'' (वही, पृ. 199) ससुराल में सास, ननद और पति से अपमानित और प्रताड़ित रही सुशीला अपनी आत्मकथा में पूछती हैं, ''क्या पति के सामने पत्नी को कोई स्थान नहीं होता? ससुराल में बहू की स्थिति क्या इतनी नगण्य होती है? स्त्री की स्थिति इस तरह पद-दलित रहती है? स्त्री इतना अपमान, इतनी पीड़ा क्यों सहती है?'' (वही, पृ. 144) आर्थिक शोषण, घरेलू एवं मानसिक हिंसा की शिकार सुशीला बच्चों की खातिर पति से अलग होने का निर्णय नहीं ले पाती और परिस्थितियों के आगे विवश होकर स्वयं को ही उस वातावरण में ढाल लेती है। सुशीला लंबे समय तक मानसिक घुटन का शिकार रहीं, क्योंकि उनके पति सुंदरलाल ने कभी भी अपने व्यवहार में परिवर्तन करने की या समझौता करने की पृष्ठभूमि तैयार नहीं की। उनमें तो स्वयं को निर्दोष मानने और हर बात के लिए अपने नियंत्रण में रह सकने वाली औरत को दोषी सिद्ध करने की पारंपरिक समझ मौजूद है।

इस आत्मकथा में दलित और स्त्री होने का दर्द साथ-साथ चलता है। लेखिका एक ऐसी अनुसूचित जाति से संबद्ध है, जिसे समाज ने सदियों से डर-डरकर घुटनपूर्ण जीवन जीने के लिए विवश किया है। पितृसत्ता और जाति-व्यवस्था का दंश झेलते हुए भी सुशीला समाज में अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज करती हैं। उनमें अपमान के विरुद्ध आक्रोश और सम्मान की चाह है। लेखिका सवर्ण समाज से ही नहीं वरन् दलित समाज से भी वह स्वयं को मनुष्य के रूप में पहचाने जाने की मांग उठा रही है। इसलिए सुशीला पारिवारिक सदस्यों की नाराजगी मोल लेकर भी अपने अनुभवों को समाज से साझा करने का खतरा उठाती हैं ताकि समाज अपने अंतरमन का सामना करना सीखे। सुशीला लिखती हैं, ''मां अक्सर मुझसे कहती है—जात-पात, छुआछूत और गाली-अपमान की बातें बताकर तुम अपना कौन-सा सम्मान बढ़ाती हो? शर्म नहीं आती है तुम्हें? अपने भूतकाल पर मुझे शर्म जरूर आती है, मगर इस तरह नहीं कि मैं उसे छिपाऊं। हमारा शोषण और अपमान करने वालों का भंडाफोड़ होना चाहिए।'' (वही, पृ. 298) उनकी भावनाओं और विचारों को सुनने-गुनने और समझने की जरूरत है। इस आत्मकथा के माध्यम से दलित साहित्य में दलित स्त्री की सक्रिय उपस्थिति और अभिव्यक्ति संपूर्ण दलित समाज की स्त्रियों के अस्तित्व को जानने-समझने में सहायक सिद्ध होगी। निश्चित ही उनकी भावनाओं और विचारों को सुनने-गुनने और समझने की जरूरत है।

शिकंजे का दर्द/सुशीला टाकभौरे/वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 495

एसोसिएट प्रोफेसर, साहित्य विद्यापीठ, म.गां.अं. हिं.वि.वि., वर्धा, महाराष्ट्र

भीष्म साहनी के नाटक

मलय पानेरी

आधुनिक हिंदी नाटककारों में भीष्म साहनी एक महत्त्वपूर्ण नाटककार हैं। महत्त्वपूर्ण इसलिए कि उन्होंने अपने नाटकों में समय और समाज को उकेरा है। उनके नाटक इसलिए भी अतिरिक्त महत्त्व प्राप्त कर सके हैं, क्योंकि उन्हें पाठक भी मिले और दर्शक भी। भीष्म साहनी के नाटक मंचीयता और पठनीयता को बराबर बनाए रखते हैं। उनके नाटकों में हम तत्कालीन समय को देखते हैं और समाज को पाते हैं। नाटक के माध्यम से उन्होंने प्रेक्षकों में न केवल रसानुभूति पैदा की वरन् जन-चेतना पैदा करने में भी सफलता पाई। उनका जुड़ाव नाटक के माध्यम से प्रेक्षकों से था। आम सामाजिक की नब्ज की पहचान और परख उनके नाटकों में स्पष्ट होती थी। वे यथार्थ की सहायता से ही आदर्श का अंकन करते थे। जीवन-सत्यों और घटना-प्रसंगों के सच की बेबाक प्रस्तुति उनका मुख्य ध्येय था। इसलिए उन्होंने हमारे समाज के बुरे पक्ष की प्रस्तुति से कभी परहेज नहीं किया। भीष्मजी के नाटक किसी भी रूप में भावुक और बौद्धिक प्रतिमानों को अस्वीकृत नहीं करते, वरन् एक विवेकसम्मत दृष्टि प्रेक्षकों को देते हैं।

भीष्मजी ने अपने रचनात्मक दायित्वों को गंभीरता से निभाया है, इसलिए उनके अवदान को विशेष स्मरणीय और संग्रहणीय बनाने हेतु राजकमल प्रकाशन से 'संपूर्ण नाटक—भीष्म साहनी' दो भागों में प्रस्तुत हुई है। प्रथम भाग में सन् 1970 के बाद के सभी छह नाटकों को रखा गया है। इस पुस्तक की संपादक उनकी पुत्री कल्पना साहनी ने भीष्मजी के जीवन से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं से पाठकों को परिचित कराने का सार्थक उद्यम प्रस्तुत किया है। उनके द्वारा लिखी भूमिका सिर्फ इस पुस्तक की भूमिका नहीं है वरन् भीष्म साहनी के उस समर्पण की भी भूमिका है, जिससे वे एक कुशल नाटककार बने।

उस समय के जन-नाट्य-संघ (इप्टा) से भीष्म साहनी का गहरा जुड़ाव इसलिए संभव हो सका कि वे तत्कालीन जनता के सामने समय के यथार्थ को प्रकट कर पा रहे थे। 'इप्टा' के नाटक प्रदर्शन से पहले की जाने वाली रिहर्सल से ही चर्चा और विवाद में आ जाते, जिससे कई बार उन पर प्रतिबंध लगाना आसान हो जाता था। और यह भी हो जाता था कि ऐसे नाटकों से जुड़े कलाकारों पर तरह-तरह से अत्याचार किए जाते थे। कल्पना साहनी ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'भीष्मजी को एक राष्ट्र-विरोधी नाटक के प्रदर्शन की तैयारी के आरोप में गिरफ्तार किया जाना था। इस अंदेशे के बावजूद भीष्मजी ने उसी नाटक का प्रदर्शन किया, पुलिस उन्हें गिरफ्तार करने के लिए हॉल के बाहर इंतजार कर रही थी और वे पीछे से भाग निकले।' ये घटना भीष्मजी के भाग जाने की घटना नहीं है वरन् ये घटना जनता में जन-चेतना के व्यापक प्रसार के लिए नाटक-प्रदर्शन के प्रति ईमानदार समर्पण की घटना है। यही वह समय था, जब सरकार कम्युनिस्टों को पार्टी-विरोधी गतिविधियों में ही सक्रिय मान रही थी और भीष्मजी सरकार के इस रवैये के विरोध के लिए तत्पर थे। उन्होंने हमेशा अपने में एक रचनाकार के दायित्वों को संभाले रखा।

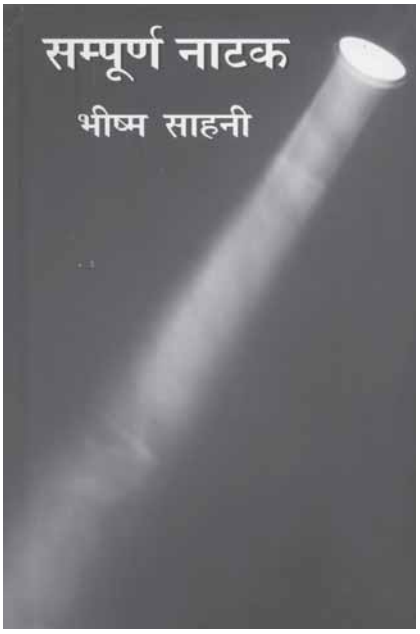

'संपूर्ण नाटक' के प्रथम भाग में सन् 70 के बाद से सभी छह नाटक अपनी कथावस्तु के कारण प्रसिद्ध और चर्चित रहे हैं। नाटक 'हानूश' से लेकर 'आलमगीर' तक हमारे देश के समय का एक क्रमागत इतिहास है। भीष्मजी का पहला नाटक 'हानूश' ऐसे समय मंचित हुआ, जब देश में इंदिरा गांधी की इमरजेंसी लागू थी। उस समय प्रेस सेंसरशिप के हालातों में यह नाटक एक सटीक अभिव्यक्ति था। सत्ता के दमनकारी चरित्रों को प्रतीकात्मक रूप में प्रकट करता यह नाटक एकदम प्रासंगिक बन पड़ा था। यह नाटक न तो ऐतिहासिक है और न ही इसका लक्ष्य हानूश की घड़ियों के आविष्कार की कहानी कहना है। भीष्मजी ने इस नाटक में मानवीय स्थितियों को मध्ययुगीन परिप्रेक्ष्य में दिखाने का प्रयास किया है, जो अचानक ही 'ताजमहल' के कलाकारों की त्रासद स्थितियों को स्मरण करा देता है।...और यही समय हमारे देश में सत्ता की दमनकारी नीतियों का, यानी आपातकाल का था। इस नाटक में यही समय अभिव्यक्त हुआ है। जन-अधिकारों के हनन के दौर में इस नाटक का मंचन और प्रकाशन उस समय की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। ऐसी रचना पाठक को देकर भीष्मजी ने एक बहुत बड़ा जोखिम उठाया था। ये रिस्क

ही भीष्मजी का नाटक के प्रति समर्पण प्रदर्शित करता है। आगे हम यह पाते हैं कि नब्बे के दशक में एक धर्मांधता का फैलाव दिखाई पड़ने लगता है। भीष्मजी ने इसी अंधेरे में रोशनी की लौ तलाशने के लिए नाटक 'कबिरा खड़ा बजार में' लिखा और यही प्रदर्शित किया कि धर्म के नाम पर फैलती लफंगई से और कुछ नहीं, सिर्फ मनुष्यता का नुकसान हो रहा है। हम इन्सानियत की कीमत पर ईश्वर खोजने लगे हैं। वास्तव में इस समय हम एक बहुत बड़े गैप को पैदा कर रहे थे और भीष्मजी ने उसकी असलियत से जनता को रूबरू कराना ज्यादा उचित समझा था। भीष्मजी के नाटकों की यह विशिष्टता सर्वमान्य है कि उनमें अभिव्यक्त मानव-विरोधी छोटी-से-छोटी घटना भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी कोई बड़ी। सन् 1992 के राजनीतिक सांप्रदायिक घटनाक्रम से हम भली प्रकार परिचित हैं। दंगों की राजनीति पर कटाक्ष करता उनका बहुचर्चित एवं प्रसिद्ध नाटक 'मुआवजे' प्रकाशित हुआ। यद्यपि यह नाटक इस घटनाक्रम से पहले का है, लेकिन विषय-वस्तु अनायास ही इस घटना से जुड़ती-सी हो जाती है। इसमें भी भीष्मजी ने बेबाकी से सामयिक यथार्थ को चित्रित कर अपने रचनात्मक दायित्व को निभाया। मानवीय रिश्तों के विघटन की कहानी कहता यह नाटक हमें कई तरह से सोचने को मजबूर करता है। इन्सानी जीवन की यह त्रासदी ही कही जाएगी कि कुछ अर्थ प्राप्ति के लिए यानी 'मुआवजे' पाने के लिए व्यक्ति को सामाजिक और मानवीय रिश्तों का सौदा करना पड़े। यह मनुष्य के जीने की नहीं वरन् जिंदा रहने की लाचारी है। यह प्रहसन हमें मनुष्यता और सामाजिकता की बुनावट के बारे में सोचने को बाध्य करता है। भीष्मजी ने अपने नाटकों को सदैव किसी-न-किसी संभावना में बांधे रखा है। जीवन की सृजनात्मक संभावनाओं में आस्था जगाता उनका नाटक 'रंग दे बसंती चोला' अपने कथ्य की साधारणता, किंतु विचार-प्रगाढ़ता के कारण विशिष्ट है। इसमें गांधी-मूवमेंट से घबराई अंग्रेजी हुकूमत का महत्त्व उतना नहीं है, जितना गांधी के विचारों पर देशवासियों के विश्वास का है। इसमें नाटककार ने राष्ट्रीय एकता के लिए कौमी-विश्वास की आवश्यकता पर बल दिया है, क्योंकि फिर इसी प्रकार की एकता हमारी जरूरत हो रही थी। इसीलिए भीष्मजी ने यह बताया है कि उस समय देश के हिंदू-मुसलमान की नहीं वरन् समग्र देशवासी की जरूरत महसूस हो रही थी। हर स्थिति में देश को बचाने की भावना को आगे बढ़ाता उनका नाटक 'आलमगीर' मुगल युग के पात्रों को आधार बनाकर लिखा गया है। इसमें नाटककार का यह उद्देश्य नहीं है कि वह मुगलकाल के इतिहास की कथा दोहराए, बल्कि यह है कि उस काल के आततायियों के हश्र से आज के आलमगीर भी सबक लें। लोकतंत्र से यदि इसी तरह लोक का लोप होता रहेगा तो सत्ता का निरंकुश चेहरा भी उभरेगा और उसका अंत भी दुखद ही होगा। यह नाटक सत्ताधीशों को लोकतांत्रिक व्यवस्था में विश्वास के लिए प्रेरित करता है। सच्चे लोकतंत्र की स्थापना पर बल देता है। नाटककार का यही मंतव्य भी रहा है कि लोकतंत्र की रोशनी में बदली दुनिया दिखाई दे।

'संपूर्ण नाटक' भाग दो भीष्मजी की प्रसिद्ध कहानियों के उन्हीं के द्वारा किए गए नाट्य-रूपांतर हैं। इनमें रचनाकार ने न सिर्फ विधागत परिवर्तन किया है, अपितु इन रूपांतरित नाटकों को नए तेवर भी दिए हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिवेश ने संपूर्ण सामाजिक जीवन-पद्धति, रहन-सहन, आचार-विचार एवं व्यवहारों को बदला है। समस्याओं के प्रति सैद्धांतिक रवैया टूटा और आदर्श समझे जाने वाली मान्यताएं अपने खोखलेपन के कारण बेकार हुई हैं। इन्हीं मान्यताओं को भीष्मजी ने अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति दी थी। जब नाट्य-साहित्य में जीवन को बेचैन करने वाली समस्याएं एवं चुनौतियों को नए संदर्भ में प्रस्तुत किया जाने लगा तो यह उचित ही लगा। इसीलिए बाद में कहानियों के प्रदर्शन तैयार हुए। कहना ही होगा कि भीष्मजी ने अपनी कहानियों को कहानीपन से जोड़े रखा और उन्हें रूपांतरित कर प्रदर्शनकारी विधा में प्रस्तुत कर नाट्य-तेवर भी दिए। इस संग्रह में 14 कहानियों का रूपांतरण तैयार किया है। आकार की दृष्टि से इन्हें हम लघु नाटक की श्रेणी में रख सकते हैं, परंतु यह कहना अतिकथन न होगा कि आधुनिकता और परंपरा के बीच की दूरी को स्पष्ट करती ये कहानियां सशक्त नाट्य-कृतियां बन सकी हैं। 'दावत' नाटक का आरंभ ही हमें पूर्ण नाटकीयता का परिचय देता हुआ अपने कथ्य को कसकर समेटता है। वहीं 'अहं ब्रह्मास्मि' समकालीन जीवन के बदलते हुए संबंधों तथा मूल्यों के यथार्थपरक नाट्य-संकेतों के साथ आज के व्यक्ति की बेचारगी और त्रासदी को सटीक अभिव्यक्ति देता है। 'निमित्त', 'खिलौने', 'आवाज़ें', नाटक सामाजिक-राजनीतिक दबावों-तनावों से संत्रस्त मानव और उसकी नियति की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्तियां हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि नई कविता, नई कहानी, नई आलोचना की तरह 'नया नाटक' जैसा कोई आंदोलन नहीं चला, लेकिन हिंदी नाटक ने अपनी कथावस्तु को हमेशा नएपन से जोड़े रखा। चिंतन और जीवन में व्याप्त नवीनता नाटक के क्षेत्र में झलकती रही है। भीष्मजी ने अपने नाटकों में इस सूत्र को पकड़े रखा है। उन्होंने व्यक्ति की अपेक्षाकृत आधारभूत समस्याओं को चित्रित किया है। 'खून का रिश्ता', 'साग मीट' नाटक अपने साधारण से कथानक के बावजूद असाधारण संबंधों की दास्तान कहते हैं। आधुनिक समाज-व्यवस्थाओं ने मनुष्य के बाह्य आचरणों को अधिक प्रभावित किया है। इसी को अभिव्यक्त करते भीष्मजी के नाटक दीर्घकालिक प्रभाव को अंकित करते हैं।

भीष्मजी के 'संपूर्ण नाटक' राजकमल प्रकाशन से कल्पना साहनी के संपादन में आए हैं। इनके नाटक अपनी पठनीयता की वजह से प्रसिद्ध और चर्चित रहे हैं। महत्त्वपूर्ण बात तो यह रही है कि कल्पनाजी ने रचनाकार भीष्मजी के रंगमंच से संबंधों (रंगमंच और मैं) को स्पष्ट करते हुए नाटककार भीष्मजी को गहराई से समझने का अवसर दिया है। भीष्मजी ने अपने आलेख में (जो मूल अंग्रेजी में The theatre and I है) रंगमंच को स्वयं से पहले रखा है—'रंगमंच और मैं' यानी उनके जीवन में रंगमंच पहले स्थान पर है और वे स्वयं उसके बाद दूसरे नंबर पर हैं। रंगमंच से अपने रिश्ते को भीष्मजी ने बहुत पहले ही जान लिया था। पारिवारिक वातावरण भी उनके लिए इस काम के लिए बहुत अनुकूल था। इसीलिए हम यह जान पाते हैं कि उन्होंने अपने परिवार में रंगमंच के लिए नाट्याभ्यास देखते-देखते स्वयं को खूब तराशा, क्योंकि केवल 'वैसा' वातावरण मिलने भर से सब कुछ नहीं मिल जाता है। इसके लिए उन्होंने

स्वरुचि को ज्यादा सहायक माना। इसीलिए वे काबिल रंगकर्मी बन सके। इप्टा के जन नाट्य संघ से भीष्मजी का प्रथम परिचय चालीस के दशक में हुआ था, जब आरंभ में (सन् 1934 के लगभग) बंगाल में अकाल पड़ा था। इस समय इप्टा द्वारा प्रस्तुत किए जा रहे नुक्कड़ नाटकों में बंगाल के अकाल-पीड़ितों की कहानी केंद्र में थी। भीष्मजी ने मनुष्य-जीवन के बाह्य यथार्थ को इसी रूप में पाया था, तो निश्चित तौर पर उनका रचनाकार-मन गहरे प्रभावित हुआ। यही समय द्वितीय विश्व-युद्ध का भी था, मनुष्यता के नाम पर बहुत कुछ करने का अवसर प्राकृतिक एवं राजनीतिक आपदाएं ही सुलभ करा रही थीं। ऐसी स्थिति में भीष्मजी ने जिंदगी के रंगमंच पर अपनी भूमिका तय की। यहीं से उन्होंने इप्टा के नाटकों को जीवन से बहुत गहरे जुड़ा पाया। वे एक दर्शक के रूप में काफी प्रभावित हुए और मन से रंगकर्म के प्रति समर्पित हुए। भीष्मजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि इप्टा के नाटक साधारण जनता से जुड़े होते थे, इसलिए उनके नाटक अभ्यास के दौरान ही जनता को ध्यान में रखकर ही विकसित होते थे। यही खूबी थी इप्टा के प्रदर्शनों की। भीष्मजी के संपूर्ण नाटक पढ़ने पर हम यह भली प्रकार जान पाते हैं कि उनमें सदैव मानव-जीवन का कटु यथार्थ बोलता रहा है। समय ही संवाद के रूप में उनके नाटकों में उपस्थित होकर दर्शक-जनता तक पहुंचता है। इसीलिए भीष्मजी के रंगमंच से संबंध भारतीय जनता की विकट स्थितियों को देखकर और अधिक प्रगाढ़ हुए हैं। लगभग संपन्न से परिवार में जन्में भीष्मजी को आखिर क्या जरूरत थी रंगमंच के प्रति समर्पण की? निश्चित तौर पर यह स्वागत के साथ स्वीकार्य है कि कल्पना साहनी और राजकमल प्रकाशन ने कला-समर्पित नाटककार भीष्मजी को और भीष्मजी के नाटकों की रचना-प्रक्रिया को पाठकों तक पहुंचाकर एक बहुत ही नेक कार्य किया है।

संपूर्ण नाटक—भीष्म साहनी (भाग 1-2)/सं. कल्पना साहनी/राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 1250

सह-आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग, ज.रा.ना राजस्थान विद्यापीठ वि.विद्यालय, उदयपुर (राज.) 431/37 पानेरियों की मादड़ी, उदयपुर-313002 (राज.)

समावेशी मीडिया में बहिष्करण की विडंबनाएं

प्रांजल धर

पिछले कुछ समय से न सिर्फ मीडिया-साक्षरता में वृद्धि हुई है, बल्कि मीडिया की आलोचना का दायरा भी बढ़ा है। सूचना युग के वर्तमान प्रगतिशील दौर में न सिर्फ मीडिया की ताकत में इजाफा हुआ है, बल्कि तकनीकी दक्षता ने आम लोगों को भी इस सुविधाजनक हालत में ला दिया है, जहां वे मीडिया की कार्यशैली पर निगाह रख सकते हैं और इस पर सवाल भी खड़े कर सकते हैं। वास्तव में मीडिया की निष्पक्षता और वस्तुनिष्ठता के सवाल जितने प्रासंगिक आज हो गए हैं, उतने पहले कभी नहीं थे। आज के दौर में मीडिया से जुड़े सर्वाधिक आवश्यक प्रश्न यही हैं कि क्या मीडिया निर्वात में काम करता है, या उसके कुछ अपने हित भी निहित होते हैं? मीडिया बिसराते जा रहे जनसरोकारों को केंद्र में लाने की कितनी कोशिशें कर रहा है और ये कोशिशें कितनी ईमानदार हैं? कॉर्पोरेट जगत के बढ़ते प्रभुत्व के कारण क्या मीडिया अपने चरित्र में संभ्रांतवर्गीय नहीं होता जा रहा है? आज जब अखबारों में पैसा देकर खबरें छपवाने के अनेक मामलों का पर्दाफाश हो चुका हो और टेलीविजन के प्राइम टाइम पर धन का दबदबा जाहिर होने लगा हो, तब ये सवाल व्यापक महत्त्व के मुद्दों की शक्ल अख्तियार करते जा रहे हैं। दिलीप मंडल की हालिया पुस्तक 'मीडिया का अंडरवर्ल्ड' पेड न्यूज, कॉर्पोरेट और लोकतंत्र के इन्हीं बुनियादी मुद्दों और सवालों से मुठभेड़ करती है।

लोगों के हालात का जायजा लेने वाले मीडिया के अपने हालात बताते हैं कि लालच, दबाव, भय और ब्लैकमेलिंग जैसे तमाम नए ईजाद किए गए तरीकों से मीडिया का प्रबंधन किया जा रहा है। वास्तव में समाज के सजग प्रहरी की भूमिका निभाने वाले चौथे खंभे की अगंभीर शैली ने लोकतंत्र में अनेक विसंगतियों को जन्म दिया है और जनमत को विकृत करने की कोशिशें भी की हैं। चुनावों के दौरान प्रत्याशियों द्वारा दिए गए विज्ञापनों की अंतर्वस्तु को खबरों के रूप में छापना क्या पत्रकारीय शुचिता के अनुरूप है? क्या इससे मतदाताओं का मत डांवाडोल नहीं होता? अखबारों में संपादकीय संस्थाएं कमजोर होती जा रही हैं और वे प्रबंधकीय संरचनाओं के आकार में ढलती जा रही हैं। तो क्या यह मान लिए जाने का समय आ गया है कि मीडिया जनमत को अब निर्मित करने की बजाय मैन्युफैक्चर करने के प्रयास कर रहा

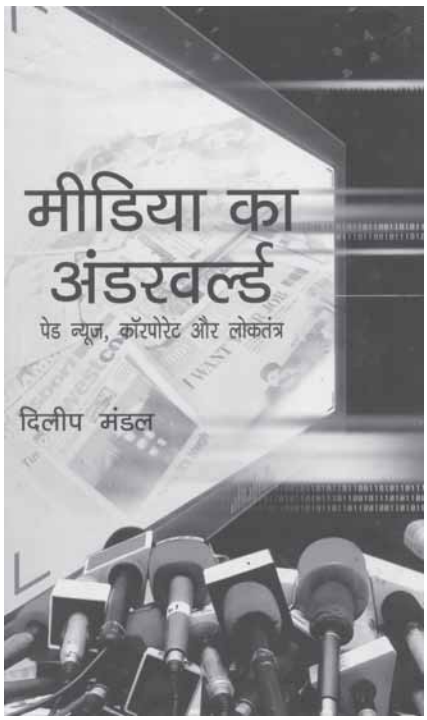

है? इक्कीसवीं सदी के भारतीय मीडिया ने समाचारों को साबुन या टूथपेस्ट की तरह का एक ऐसा उत्पाद बना दिया है, जहां उत्पादक का लक्ष्य सिर्फ और सिर्फ मुनाफा कमाना ही होता है।

बिकती खबरों के वर्तमान विकट दौर में पेड न्यूज को लेकर प्रेस परिषद को भी शिकायतें मिली थीं। इन पर विचार करने के लिए, जो उपसमिति गठित की गई थी, उसकी रिपोर्ट को बहुत काटछांट के बाद और मीडिया घरानों के नामों को हटाकर जारी किया गया है। क्या इसे उचित कहा जा सकता है? उम्मीदवारों, पैसे और कवरेज को लेकर दिलीप मंडल ने बड़े सामयिक प्रश्न उठाए हैं, जिनसे हम अक्सर दो-चार होते रहते हैं। इन प्रश्नों में मीडिया के मिशन बनाम व्यवसाय वाले पारंपरिक पहलू के साथ-साथ अनेक हालिया दृष्टांत भी समाहित हैं, जो लेखकीय फलक की विस्तृत जमीन को ही रूपायित करते हैं। पत्रकारिता का बिजनेस समाचारों की परिभाषा को ही नहीं, पत्रकारों को भी प्रभावित कर रहा है और अब तो प्राइवेट ट्रीटी जैसी चिंताओं का भी धुंधलापन समाप्त हो चुका है। वे साफ-साफ पहचानी जाने वाली शक्लों में हमारे सामने आ चुकी हैं।

मीडिया पर किया गया कोई भी विमर्श तभी सार्थक माना जा सकता है, जब वह क्रॉस मीडिया मिल्कियत, मीडिया उद्योग की नैतिकता और विज्ञापनराज के समस्त पहलुओं समेत अपने समय और समाज के अनेक बड़े और वृहत्तर दायरों को छुए। दिलीप मंडल की यह पुस्तक ऐसा आनुभविक आधार पर करने की कोशिश करती है और 'द हिंदू' या 'ट्रिब्यून' जैसे अंग्रेजी अखबारों से लेकर 'दैनिक जागरण', 'हिंदुस्तान' और 'जनसत्ता' जैसे हिंदी अखबारों तक के तमाम जीवंत उदाहरण देती है। ऐसा लगता है कि लेखक ने पुस्तक लिखने के क्रम में व्यापक अध्ययन किया है और कड़ी मेहनत करके समाचारपत्रों के शीर्षकों में पसरी एकांगिता को रेखांकित करने का यत्न किया है। पुस्तक में हर बात के समर्थन में इतने अधिक उदाहरण हैं कि कई बार तो यह लगने लगता है मानो मीडिया में जिस प्रामाणिकता का इतना ज्यादा अभाव है, वह यहां प्रचुर मात्रा में और बड़ी सहजता से उपलब्ध है।

परंतु एक रोचक सवाल यहां खड़ा होता है। मीडिया के कारोबार पर चर्चा करते हुए खुद लेखक ने यह सार्थक सवाल पुस्तक में एकाधिक स्थलों पर उठाया है। वह सवाल नमूनों से जुड़ा है, जो अनिवार्यरूप से एक ऐसी स्थिति की ओर ले जाता है, जहां यह मानना पड़ता है कि किसी चीज का चयन हम बाकी चीजों को छोड़कर ही कर पाते हैं। मसलन—मीडिया समाज में घट रही सारी घटनाओं को न तो महत्त्वपूर्ण मानता है और न ही सारी घटनाओं को कवरेज प्रदान करता है। कवरेज के लिए वह कुछ चुनिंदा घटनाओं को ही उठाता है। इतना ही नहीं, वह चयनित घटनाओं के भी केवल चयनित पक्षों को ही छापता, सुनाता या दिखाता है। यह बात इस पुस्तक के लेखक पर भी लागू होती है कि जब वे कुछ ही शीर्षकों को अपनी पुस्तक के लिए स्वीकार करते हैं तो तमाम शीर्षक छूट जाते हैं। वैसे भी, आगमनात्मक पद्धति जितनी गणित और विज्ञान के क्षेत्रों में सफल मानी जाती है, उतनी पत्रकारिता या मानविकी की अन्य शाखाओं में कारगर नहीं रह पाती। विश्लेषण के औजारों की अपनी सीमा होती है और मीडिया से जुड़ा कोई भी विश्लेषण इस सीमा को समझे बिना संतुलित नहीं हो सकता। इसीलिए सामयिक किस्म के अनेक प्रश्नों पर दिलीप मंडल को जजमंटेल होना पड़ा है। ऐसे बिंदुओं पर जाने-अनजाने वे एक एक्टिविस्ट होने का भ्रम-सा रचते हैं, जो जर्नलिस्ट के दायरे से बाहर की चीज लगने लगती है।

दिलीप मंडल ने भाषायी मीडिया के 'धतकरम' की अच्छी पड़ताल की है और 'द हिंदू' जैसे महत्त्वपूर्ण और जिम्मेदार कहे जाने वाले अखबार के गैर-जिम्मेदाराना रवैये को ठोस तरीके से वर्णित किया है। पेड न्यूज के खिलाफ 'द हिंदू' ने जो लंबा अभियान चलाया था, उस पूरे अभियान में भारतीय भाषा का मीडिया प्रमुखता से शामिल किया गया। 'द हिंदू' ने अपने एक संपादकीय में लिखा कि हैदराबाद में आयोजित एक मीडिया सेमिनार में एक नेता ने भ्रष्टाचार को राजनेताओं से पत्रकारों को की गई कैश ट्रांसफर स्कीम कहा है। यहां पत्रकारों से 'द हिंदू' का तात्पर्य भारतीय भाषाओं के मीडिया से जुड़े पत्रकारों से था। चाहे वह तेलुगु प्रेस हो या फिर मराठी प्रेस; भारतीय भाषाओं के प्रेस को खास तौर पर आलोचना के घेरे में लिया गया, पर जिस विदेशी भाषा का अखबार 'द हिंदू' इन्हें संदेहों के दायरे में खड़ा कर रहा था, वह स्वयं कितना निष्पक्ष रहा? क्या हिंदू ने पत्रकारीय नैतिकता की जिन अच्छी कसौटियों पर भाषायी अखबारों को कसने की कोशिशें कीं; वह खुद अपने द्वारा बनाई गई कसौटियों पर खरा उतर सका है? यह हमारे देश की विडंबना नहीं, तो और क्या है कि अगर कोई बात अंग्रेजी में बोली जाए तो उसे अधिक असरदार माना जाता है और यदि कोई खबर अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित होती है तो जनता उसे सहज ही अधिक प्रामाणिक और वस्तुनिष्ठ मान लेती है। वास्तव में यह भारतीय भाषाओं की विनम्रता पर बज रहा अंग्रेजी का डंका है, पर दिलीप मंडल ने इस डंके की हकीकत को बखूबी बयां किया है। लेखक ने 'द हिंदू' अखबार के दिल्ली संस्करण का एक खास समयावधि तक, चुनावों के दौरान, निरंतर अध्ययन किया है।

हरियाणा चुनाव से जुड़े इस अध्ययन के निष्कर्ष बेहद महत्त्वपूर्ण हैं। मसलन उस चुनाव में 'द हिंदू' ने विपक्ष की ओर से मुख्यमंत्री पद के सबसे मजबूत दावेदार ओमप्रकाश चौटाला का जिक्र किसी हेडलाइन में नहीं किया है। हरियाणा के मुख्यमंत्री होने के नाते भूपेंद्र सिंह हुड्डा को अखबारों में ज्यादा कवरेज मिलने को स्वाभाविक अवश्य कहा जा सकता है, लेकिन इस अखबार के कवरेज में हुड्डा कुछ ज्यादा ही छाए हुए हैं। चुनाव के दौरान हरियाणा राज्य का कवरेज प्रथम पृष्ठ पर महज दो बार आया है। पहली बार तब, जब कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी ने हरियाणा राज्य का दौरा किया और दूसरी तथा अंतिम बार तब, जब प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने वहां राजनीतिक दल कांग्रेस के समर्थन में एक रैली की। इस अखबार ने राजनीतिक जनमत को प्रभावित करने का काम कितनी बारीकी से किया है, इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि मुख्य विपक्षी पार्टी इंडियन नेशनल लोकदल का प्रमुखता से जिक्र हुआ ही नहीं है, इसका जिक्र करने का ढंग ऐसा निर्मित किया गया है कि इसे उस जगह पर चर्चा मिली है, जिस जगह पर इस

दल का नाम एक कांग्रेसी नेता के बयान में आया है। बहुत अफसोस की बात है कि इस चुनाव के दौरान 'द हिंदू' के पूरे कवरेज से कहीं पता नहीं चलता कि इनेलोद पार्टी चुनाव क्यों लड़ रही है, उसके मुद्दे क्या हैं, उसके अपने नेताओं के बयान क्या हैं या फिर उनका स्टैंड क्या है और कांग्रेस की आलोचना वह किन आधारों पर कर रही है। क्या ऐसे कवरेज को राजनीतिक दृष्टि से संतुलित कहा जा सकता है? मजे की बात यह है कि 'मीडिया का अंडरवर्ल्ड' के लेखक ने अपनी सारी बातें लिखित प्रमाणों के आधार पर कही हैं।

मीडिया से संबंधित ये बुनियादी विसंगतियां इस तथ्य के आलोक में और भी ज्यादा काबिलेगौर हो जाती हैं कि 'द हिंदू' बेहद महत्त्वपूर्ण अखबार है और इसका एक लंबा इतिहास रहा है। इस इतिहास और गौरव का बखान करने के लिए स्वयं यह अखबार अपने मास्टहेड यानी नामपट्टिका के नीचे 'सिंस 1878' लिखता है। यह अखबार देश का सर्वाधिक बिकने वाला अखबार भले ही न हो, किंतु राजकाज चलाने वाले नीति-निर्माता जिन अखबारों को बहुत मन लगाकर पढ़ते हैं, यह उनमें से एक है। जनमत बनाने में और शासन-सत्ता को प्रभावित करने की इसकी क्षमता भी दूसरे अखबारों की तुलना में कहीं अधिक है। एक मायने में गंभीर कही जाने वाली पत्रकारिता के एक मजबूत गढ़ के रूप में इस अखबार ने बाजार के दबाव में किए जा रहे बदलावों का सबसे ज्यादा प्रतिरोध भी किया है। सोचने वाली बात है कि जब इस अखबार का चुनावी सर्वेक्षणों के दौर में और चुनावों के समय में ऐसा हाल रहा है तो बाकी अखबारों की हालत कैसी रही होगी! इतना ही नहीं है कि इस अखबार ने केवल खबरों या उनकी अंतर्वस्तुओं को एकांगी रूप से पेश किया है, बल्कि जैसा कि लेखक ने सप्रमाण साबित किया है, तस्वीरों और कैप्शन में भी शुचिता का पूरा-पूरा पालन नहीं किया गया है।

रॉबर्ट मैकनील ने अपनी विख्यात कृति 'द पीपुल मशीन' में लिखा है कि इसके कुछ सबूत तो हैं कि प्रेस, रेडियो और टेलीविजन राजनीतिक मतों से परिवर्तन को बहुत कम प्रभावित कर पाते हैं, लेकिन मतों की विविधता निश्चित रूप से जनसंचार माध्यमों के जरिए अपनी अभिव्यक्ति पाने पर निर्भर है। जब सारे लोगों को अभिव्यक्ति ही नहीं मिल पाएगी तो खबरों में कितना खबरपन शेष रह जाएगा? इसीलिए हैराल्ड इवान्स ने कहा है कि लोग ही समाचार हैं। हालिया समय में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में समाचार चैनलों की दायित्वहीनता को लेकर अनेक शिकायतें आई हैं और इन पर हमारी संसद में बहसें भी हुई हैं। हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश और नए-नए नियुक्त हुए प्रेस परिषद के अध्यक्ष मार्कंडेय काटजू ने भी प्रेस परिषद के अधिकारों के दायरे को बढ़ाने की मांग की है ताकि गलत पाए गए चैनलों का लाइसेंस रद्द किया जा सके और उन पर जुर्माना लगाया जा सके या सेंसरशिप आरोपित की जा सके। यह तो निश्चित है कि काटजू की यह मांग उचित नहीं है, क्योंकि यदि सरकार या किसी अन्य संस्था को किसी चीज के प्रसारण या प्रकाशन को रोकने की शक्ति दे दी गई तो वास्तव में वह दिन लोकतंत्र के इतिहास में सबसे काला दिन होगा। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का भी मत था कि बंदिशों से घिरे प्रेस की तुलना में तो निरंकुश प्रेस भी श्रेष्ठ होता है। बहरहाल सवाल केवल इतना है कि आए दिन अब ऐसे मामलों का खुलासा होने लगा है, जिनसे मीडिया की साख पर बट्टा लगना लाजिमी है।

दिलीप मंडल ने जो सवाल उठाए हैं, वे अच्छाई-बुराई से जुड़े होने के कारण शाश्वत प्रश्न हैं, लेकिन उनकी यह पुस्तक अपनी संकुचित प्रकृति में सामयिक है। जिस चुनाव की बातें की गई हैं, जनता उन्हें तो याद रखना जरूरी समझती नहीं; चुनाव के विश्लेषणों को वह क्या खाक याद रखेगी? वाल्टर लिपमैन ने बहुत पहले ही 'पब्लिक ओपिनियन' नामक पुस्तक लिखी थी और बताया था कि जनता वास्तव में नाक से सोचती है। नोक चोम्स्की ने जिसे 'मैन्यूफैक्चर्ड कन्सेंट' कहा है,वह वास्तव में मैन्यूफैक्चर ही केवल इसीलिए हो पाती है, क्योंकि जनता उसे मैन्यूफैक्चर होने देती है। जब अमरीका जैसे उन्नत और साक्षर देश में ऐसी दशाएं विद्यमान हैं, तो फिर भारत का तो कहना ही क्या! हमारे यहां एक बहुत बड़ी आबादी तो पढ़ी-लिखी ही नहीं है। फिर मीडिया की कारगुजारियों के प्रति उसे कैसे सचेत बनाया जाए? इस समस्या का असली निदान क्या है?

देखा जाए, तो समस्या का निदान हो या न हो, इस बात से इस पुस्तक की महत्ता कम नहीं हो जाती। कम तो यह बात भी नहीं हो जाती कि पेड न्यूज अब एक संगठित उद्योग का रूप ले चुका है। यह कॉर्पोरेट द्वारा नियंत्रित है, जिसमें एक पत्रकार की निजी हैसियत उद्योग के महाकाय शरीर के आगे घटती ही गई है। इस हैसियत के घटने का कारण भी साफ है। अब जिसे 'समाचार' के रूप में छापा जाता है, वह संवाददाताओं या पत्रकारों द्वारा एकत्रित नहीं किया जाता, बल्कि संबद्ध राजनीतिक दल या उम्मीदवार की इच्छा के अनुकूल लिखा जाता है, जिसने प्रकाशन या मीडिया हाउस को पैसा दिया होता है। तमाम मामले तो ऐसे हैं, जिनमें पत्रकारों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, क्योंकि नेता के पीछे खड़ा जनसंपर्क ही इस काम को अंजाम दे देता है। तो क्या मान लिया जाए कि पत्रकारों के काम करने का दायरा निरंतर सिकुड़ता जा रहा है?

पुस्तक इक्कीसवीं सदी के भारतीय मीडिया का बढ़िया वर्णन करती है और बताती है कि किस प्रकार मीडिया हमें सिखाता है कि दाग अच्छे हैं। चुनावों में मीडिया के महाभोज और बिकती खबरों समेत पेड न्यूज का जितना विस्तृत चित्र दिलीप मंडल ने खींचा है, वह वास्तव में कचोटता सबको है, लेकिन है यह एक दुर्लभ चित्र! मीडिया किस प्रकार मंदी की मार को अपने लिए एक स्वर्णिम अवसर में तब्दील कर लेता है और किस प्रकार कोई 'आम सहमति' खतरनाक हो सकती है, इसका अच्छा जायजा लिया गया है। आज सर्वाधिक आवश्यकता पत्रकारों द्वारा पढ़े जाने वाले सदाचार के बुनियादी पाठ की है, जिस पर लेखक ने अच्छी रोशनी डाली है। पुस्तक की भाषा सरल और सुबोधगम्य है और प्रस्तुति की शैली वैज्ञानिक। वास्तव में यह पुस्तक मीडिया जगत में पसरे अंधेरे को चीरने की एक ईमानदार कोशिश करती है।

मीडिया का अंडरवर्ल्ड (पेड न्यूज, कॉर्पोरेट और लोकतंत्र)/दिलीप मंडल/राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 350

तुमस गोस्ता त्रांसत्रोमर को साहित्य का नोबेल पुरस्कार

सुभाष शर्मा

स्वीडन के वयोवृद्ध कवि (80 वर्ष) तुमस त्रांसत्रोमर को 2011 का साहित्य का नोबेल पुरस्कार दिया गया। इस सम्मान के साथ उन्हें एक करोड़ क्रोनोर (15 लाख डॉलर) दिए जाएंगे। सर्वविदित है कि मानव मस्तिष्क के रहस्यों को अभिव्यक्त करने वाले वह अग्रणी एवं अतियथार्थवादी साहित्यकार हैं। त्रांसत्रोमर का जन्म 15 अप्रैल, 1931 को स्टॉकहोम में हुआ था। उनका पालन-पोषण अकेले उनकी मां ने किया, क्योंकि उनके बचपन में ही उनकी मां का तलाक उनके पिता से हो गया था। उनकी मां विद्यालय की शिक्षिका थीं। उनके पिता एक पत्रकार थे। उनकी प्रारंभिक माध्यमिक शिक्षा स्टॉकहोम के सोदरा लैटिन विद्यालय में हुई। महज तेईस वर्ष की उम्र में उनका पहला कविता-संग्रह 'सत्रह कविताएं' (17 दिक्तर) प्रकाशित हुआ। उन्होंने स्टॉकहोम विश्वविद्यालय से 1956 में मनोविज्ञान में स्नातक की डिग्री ली। उनके अतिरिकत विषय थे : इतिहास, धर्म एवं साहित्य। उनकी कई रचनाएं (15) मूलतः स्वीडिश भाषा में (बाद में अंग्रेजी में अनुवाद हुआ) प्रकाशित हैं, जिनमें से दो सबसे प्रसिद्ध हैं : 'विंडोज एंड स्टोन्स' (1966) एवं 'द ग्रेट इनिग्मा' (2004)। इसके अलावा उनकी प्रकाशित पुस्तकें हैं : 'सेक्रेट्स आन दे वे' (1958), 'द हाफ फिनिश्ड हैवन' (1962), 'नाइट विजन' (1970), 'पाथ्स' (1973), 'बाल्टिक्स' (1974), 'द ट्रुथ बैरियर' (1978), 'द वाइल्ड स्क्वायर' (1983), 'फॉर द लिविंग एंड द डेड' (1991), 'द सारो गोंडोला' (1996), 'द बिग रिडिल' (2004) एवं 'रिफ्लेक्टेड इन वेफा नं. 11' (2007)। उनकी पंद्रह पुस्तकें अंग्रेजी में अनूदित हो चुकी हैं तथा अंग्रेजी सहित लगभग साठ भाषाओं में उनकी रचनाएं अनूदित हो चुकी हैं। यह उल्लेखनीय है कि उनके मित्र राबर्ट ब्लाइ ने 1950 के दशक से ही उनकी कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद करना शुरू कर दिया था। 2001 में इन दोनों मित्रों के पत्रों का संग्रह 'एअरमेल' के नाम से प्रकाशत और चर्चित हुआ। इसके अलावा राबर्ट हैस, मे स्वेसन रॉबिन फुल्टन एवं अन्य अनुवादकों ने भी त्रांसत्रोमर की रचनाओं का अंग्रेजी में अनुवाद किया। उनका संस्मरण 'मेमोरीज लुक एट मी' (1993) के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

त्रांसत्रोमर को अब तक दस महत्त्वपूर्ण पुरस्कार मिल चुके हैं : 1966 में बैलमैन-प्राइजेत (स्वीडन), 1981 में पेत्रार्का-प्राइज (जर्मनी), 1990 में न्यूस्टाड इंटरनेशनल प्राइज फॉर लिटरेचर (सं.रा. अमेरिका), 1991 में नॉर्दिक प्राइज फॉर स्वीडिश अकेडमी (स्वीडन), 1992 में होर्स्ट बिनेनेक प्राइज फॉर पोयट्री (जर्मनी), 1996 में अगस्तप्राइजेत (स्वीडन), 2003 में स्त्रूगा पोयट्री इवनिंग्स रीथ (मख्दूनिया), 2007 में द ग्रिफिन ट्रस्ट लाइफटाइम रिकगनिशन अवार्ड (कनाडा), 2011 में टाइटिल ऑव प्रोफेसर (स्वीडन के मंत्रिमंडल द्वारा) तथा 2011 में ही नोबेल साहित्य पुरस्कार।

उल्लेखनीय है कि त्रांसत्रोमर का नामांकन नोबेल साहित्य पुरस्कार के लिए पूर्व में कई बार हो चुका था, मगर हर बार वह चूक जाते थे। इस बार पुरस्कार की घोषणा होने के मात्र चार मिनट पहले उन्हें इसकी सूचना दी गई। नोबेल समिति ने उन्हें इस पुरस्कार के लिए इसलिए चुना 'क्योंकि अपने घनीभूत एवं लगभग पारदर्शी बिंबों के जरिए, वह हमें नए ढंग से यथार्थ उपलब्ध कराते हैं।' स्वीडिश अकादमी के स्थायी सचिव पीटर इंग्लैंड ने कहा, ''वह 1951 से कविताएं रच रहे हैं, जब उन्होंने पहला प्रयास किया। वास्तव में, उनकी कम रचनाएं प्रकाशित हैं। वह बड़े-बड़े सवालों पर लिख रहे हैं। वह मृत्यु के बारे में लिख रहे हैं, वह इतिहास और स्मृति तथा प्रकृति के बारे में लिख रहे हैं।'' जैसे ही उन्हें नोबेल पुरस्कार देने की घोषणा हुई, उनकी कविताओं के दो खंड अविलंब फिर से निर्गत कर दिए गए।

यह कहना अप्रासंगिक नहीं है कि शुरुआत में वह प्रायः प्रकृति से संबंधित कविताएं लिखा करते थे, मगर बाद में निजी अनुभूतियों वाली, गहन संवेदना वाली तथा खुली कविताएं लिखनी शुरू कीं। फिर उनकी नई कविताएं रिक्तता में प्रवेश करने लगीं, अज्ञेय चीजों को समझने की कोशिश करने लगीं तथा इंद्रियातीत की खोज करने लगीं।

एक व्यावसायिक मनोवैज्ञानिक के रूप में उन्होंने किशोर कारागार में काम किया, विकलांगों, सजायाफ्ता कैदियों तथा नशाखोरों के सुधार का भी काम किया। वह थोरो से काफी प्रभावित थे और उनसे निरंतर प्रेरणा लेते रहे। वह अपने जीवन तथा रचनाओं में निजी व्यक्ति बने रहे, मगर यथार्थतः वह दुराव-छिपाव से बिल्कुल दूर रहे। उनकी कविताएं पढ़ने पर सजग पाठक महसूस करता है कि उनमें गहन एवं सुंदर सन्नाटा है, मानो उनके शब्द एक विशाल सफेद कैनवास पर दाग जैसे हों। उनकी कविताएं स्वीडेन के भूदृश्य पर सरल शब्दों में बार-बार लौटती हैं। उनमें पुराने जमाने की टूटी-फूटी नावें हैं, डोंगियों से भरे बंदरगाह हैं, वनाच्छादित क्षेत्र में बरसात से भीगी सुबहें हैं, आदि। फिर उनकी रेल यात्राएं भी उनकी कविताओं में विशेष रूप से जीवंत हैं। सफीर उन्हें बेहद पसंद है—नए अनुभवों के लिए, नए परिवेशों को समझने के लिए और नएपन का लुत्फ उठाने के लिए उनके द्वारा मित्रों को लिखे गए तमाम पत्र और मित्रों से प्राप्त हुए तमाम पत्र भी उनकी कविताओं में मौजूद हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि कई महाकवियों की तरह त्रांसत्रोमर का भी मत है कि दुनिया हूबहू वैसी नहीं है, जैसी वह प्रतीत होती है कि सजगता और गहन ध्यान से देखने पर वृहद एवं अनोखी दुनिया की एक झलक ही मिल सकती है।

त्रांसत्रोमर, जो यूरोपीय साहित्य के महानतम एवं सर्वाधिक विशिष्ट स्वरों में से एक हैं, के बारे में केन वोरपोल की टिप्पणी ध्यातव्य है : पहली बात यह है कि यद्यपि त्रांसत्रोमर स्वीडन के सर्वाधिक अनूदित कवि हैं, फिर भी उन्हें उतनी मान्यता नहीं मिली, जिसके वह हकदार हैं। दूसरी बात यह है कि एक मनोवैज्ञानिक का व्यावसायिक कार्य करने के कारण उनकी रचनाओं में विभिन्न कठिनाइयों और संकटों में फंसे लोगों के प्रति अपार प्यार एवं सम्मान है। उनकी कलाहीन सरलता वाले बिंबों में मानव दुःख-दर्द को समझने का विशिष्ट स्वर है। उनकी रचनाओं की दुनिया शहर की दुनिया नहीं है, बल्कि जंगलों, खाली पड़ी ग्रामीण सड़कों एवं बाल्टिक जलयानों के जलमार्ग की दुनिया है। उसमें कभी-कभी अफ्रीका के गांव भी दिखते हैं। तीसरी बात यह है कि स्वीडन में उन्हें 'बाज कवि' (बजर्ड पोएट) कहा जाता है, क्योंकि वह रोजमर्रा की जिंदगी के ऊपर उड़ते प्रतीत होते हैं, भूदृश्य एवं जनता का असंबद्ध, मगर सहानुभूतिपरक विवरण लेते हैं। इसीलिए उनकी रचनाओं को पढ़ते समय छागल की चित्रकलाएं अनायास याद आती हैं। जब हम त्रांसत्रोमर के साथ (उनकी रचनाओं के जरिए) होते हैं, तो हम रिल्के और शेली तथा फरिश्तों एवं उद्गमों के अन्य कवियों के साथ होते हैं। स्वप्न-जैसा उड़ने का अनुभव और अनंत बार गिरना उनकी कविताओं में बार-बार मिलता है। उनकी शुरुआत की एक कविता 'प्रिल्यूड' इस पंक्ति से शुरू होती है 'जागना स्वप्नों से पैराशूट से कूदना है'। इस प्रकार हर सुबह दुनिया में गिरने का बोध (मानो किसी दूसरे ग्रह से) उनकी तमाम रचनाओं में मिलता है। पी. बी. शेली की रचना 'एडोनाइस' की तरह त्रांसत्रोमर के विषय अक्सर महसूस करते हैं कि वे जीवन के सपने से जाग गए हैं। चौथी बात यह है कि उनकी कई कविताओं में फोटो वाली कल्पना है, जिसमें हल्का और गहरा रंग बार-बार अपना स्थान बदलते हैं। उदाहरण के तौर पर उनकी कविता 'द कपल' ध्यातव्य है—

> वे बंद कर देते हैं बत्ती और इसका सफेद अल्प प्रकाश
> बुझने से पहले क्षण भर टिमटिमाता है
> जैसे अंधेरे के गिलास में एक टिकिया है।।

पांचवीं विशेषता यह है कि त्रांसत्रोमर की संगीत में विशेष रुचि है, क्योंकि यह दुनिया को साफ करता रहता है, भावनाओं को आकार देता है एवं कई पीढ़ियों को हिला देता है। फिर भी संगीत अदृश्य रहता है तथा भौतिक दुनिया को अछूता छोड़ देता है। अपनी कविता 'अलेग्रो' में वह संगीत को कांच का घर मानते हैं, जिस पर बड़े-बड़े पत्थर फेंके जाते हैं, मगर कांच नहीं टूटते। उनकी विलक्षण कल्पनाएं यथार्थ को नया मोड़ एवं आयाम देती हैं। उनके लिए जीवन चेतना की परिवर्तनशील अवस्थाओं तथा अलौकिक शक्ति के प्रकटन के विरल क्षणों की एक शृंखला है। उनकी कविता आधुनिकता, अभिव्यक्तिवाद एवं अतियथार्थवाद पर टिकी है तथा खंडीकरण और एकांत के मुद्दों से सरोकार वाले शक्तिशाली बिंबों से परिपूर्ण है। आलोचक केटी पीटरसन ने 'बोस्टन रिव्यू' में रखने में एक बार महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की थी कि त्रांसत्रोमर की कविताओं में ऐसी अलौकिक लय की परिपूर्णता रहती है, जिसमें प्रकृति सक्रिय, ऊर्जावान कर्ता है, जबकि 'स्व' (यदि वह थोड़ा-बहुत मौजूद है) कर्म है। कवि-आलोचक टॉम स्ली ने 'इंटरव्यू वग अ घोस्ट' (2006) में मजेदार टिप्पणी की थी : त्रांसत्रोमर की कविताएं ऐसी जगहों की कल्पना हैं, जो अथाह खाई में निहित हैं, जैसे नए खोदे गए कुएं में भूजल का सोता फूटता है। उनकी एक छोटी-सी, मगर महत्त्वपूर्ण कविता है 'राष्ट्रीय असुरक्षा' : ''अवर सचिव आगे झुकती है और एक्स (का निशान) बनाती है और उसकी बालियां चमकती हैं डेमोक्लीज की तलवारों की तरह॥

> जैसे एक रंग-बिरंगी तितली अदृश्य रहती है धरती पर
> वैसे ही दैत्य समा जाता है खुले अखबार में॥
> सत्ता ग्रहण कर ली है किसी के द्वारा न पहने गए हेलमेट ने
> कछुआ मां भागती है जल के भीतर उड़ती हुई॥''

जब 1984 में भोपाल गैस त्रासदी हुई थी, तो त्रांसत्रोमर ने सुदूर स्वीडन से यात्रा करके भोपाल में संवेदना व्यक्त करने के लिए काव्य पाठ किया था, जिसमें हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के तमाम कवियों ने सक्रिय हिस्सा लिया था। उक्त काव्य पाठ काफी चर्चित हुआ था।

ज्ञातव्य है कि इस बार भारत के दो साहित्यकारों—विजयदान देथा (हिंदी) तथा के. सच्चिदानन्दन (मलयालम) का नामांकन साहित्य के नोबेल पुरस्कार के लिए हुआ था। विजयदान देथा ने दर्जनों लोककथाओं की पुनर्रचना करके नई अनोखी कहानियां हिंदी जगत को दी हैं, मगर तमाम आलोचक-कहानीकार इसी वजह से उन्हें मौलिक कहानीकार नहीं मानते। नोबेल पुरस्कार की घोषणा के पहले विजयदान देथा ने कुछ समाचार-पत्रों और टी.वी. चैनलों को उत्साहित होकर बताया था कि वह किसी पुरस्कार के लिए कभी जोड़-तोड़ नहीं करते। इसी प्रकार के. सच्चिदानन्दन ने भी जनसंचार माध्यमों में

कुछ उत्साहजनक बयान दिया था, मगर अभी तक रवींद्रनाथ ठाकुर को छोड़कर (एक सदी पहले) किसी भारतीय साहित्यकार की नोबेल पुरस्कार के योग्य नहीं समझा गया अथवा हमारे साहित्यकार उसके योग्य ही नहीं हैं, यह वाद-विवाद-संवाद का मौजूं विषय हो सकता है, मगर इतना तो तय है कि जिस उदारता एवं गति से विदेशी साहित्य का अनुवाद हिंदी, बंगला, मराठी, मलयालम आदि तमाम भारतीय भाषाओं में होता रहा है, वैसी उदारता एवं गति भारतीय साहित्य का अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, इतालवी, स्पैनिश, पुर्तगाली, रूसी, जापानी, चीनी आदि भाषाओं में कदापि नहीं है। इसके लिए भारत के तमाम विश्वविद्यालयों के तमाम भाषा विभाग, साहित्य अकादमी, केंद्रीय हिंदी संस्थान, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, विदेशी भाषाओं के संस्थान, हिंदी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय आदि प्रमुख रूप से जिम्मेदार हैं। पुरस्कार मिलने के पूर्व तक त्रांसत्रोमर की भी इक्का-दुक्का कविताएं ही हिंदी में अनूदित होकर पाठकों तक पहुंची थीं। पुरस्कार की घोषणा के बाद प्रसिद्ध कवि-आलोचक अशोक वाजपेयी ने अपने स्तंभ 'कभी-कभार' (जनसत्ता) में सबसे पहले त्रांसत्रोमर की कविताओं, संग्रहों, भोपाल यात्रा आदि की संक्षिप्त चर्चा की थी, मगर अन्यत्र कोई चर्चा-परिचर्चा देखने को नहीं मिली। यह तथ्य सिद्ध करता है कि अधिकतर भारतीय साहित्यकार विश्व के श्रेष्ठ लेखन से समय पर परिचित नहीं रहते और बड़ा पुरस्कार मिलने के बाद ही वे चौंकते हैं तथा पुरस्कृत साहित्यकारों को मन से पढ़ना-समझना शुरू करते हैं। नई पीढ़ी को यह विडंबना विरासत में मिली है, यह उतना ही चिंताजनक तथ्य है, जितना नई पीढ़ी का अपनी परंपरा से कटना। फिर भी मलयाली कवि के. सच्चिदानंदन का यह कथन विचारणीय हो सकता है : ''कई भारतीय लेखक नोबेल पुरस्कार हेतु विचार करने के योग्य हैं। हम पर विश्व स्तर पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता था, क्योंकि हमारी रचनाओं का अनुवाद नहीं हुआ है, मगर यह प्रवृत्ति अब बदल रही है।''

डी-71, निवेदिता कुंज, आर.के. पुरम, सेक्टर-10, नई दिल्ली-110022, फोन : 011-26162591

हिंदीसमयडॉटकॉम : हिंदी का सबसे बड़ा ऑनलाइन पुस्तकालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से एक अपेक्षा यह की जाती है कि वह हिंदी को अंतराराष्ट्रीय भाषा बनने के लिए आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराए। यह तभी संभव हो सकता है, जब हिंदी न सिर्फ गंभीर विमर्श का माध्यम बने, बल्कि हिंदी में लिखा गया महत्त्वपूर्ण साहित्य देश-विदेश के विशाल पाठक समुदाय तक पहुंचे। विश्वविद्यालय द्वारा संचालित हिंदीसमयडॉटकॉम इसी दिशा में एक महत्वाकांक्षी प्रयास है। हिंदीसमयडॉटकॉम का उद्देश्य यह है कि हिंदी में जो कुछ महत्वपूर्ण लिखा गया है, उसे हिंदीसमयडॉटकॉम के जरिए दुनियाभर में फैले साहित्य प्रेमियों को उपलब्ध कराया जाए।

यद्यपि इंटरनेट पर अनेक ऐसे वेबसाइट हैं, जहां हिंदी में प्रकाशित कुछ कृतियाँ और रचनाएं उपलब्ध हैं, पर कोई ऐसी वेबसाइट नहीं है, जो संपूर्ण हिंदी साहित्य को नेट पर लाने के लिए प्रतिबद्ध हो। इस दृष्टि से हिंदीसमयडॉटकॉम एक अनोखी परियोजना है। इस वेबसाइट ने अल्प समय में ही अच्छी-खासी लोकप्रियता अर्जित कर ली है। अभी तक लगभग साढ़े चार लाख पाठक हमारी वेबसाइट पर आ चुके हैं। करीब दो हजार पाठक रोज हिंदीसमयडॉटकॉम का पन्ना खोलते हैं। इनमें संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, नार्वे, डेनमार्क, पाकिस्तान, कतर, सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, ईरान, पुर्तगाल, स्पेन आदि देशों के पाठक होते हैं। अक्सर हमें इच्छुक पाठकों की मेल मिलती है कि अमुक-अमुक पुस्तक को हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध कराने की कृपा करें।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर इस समय एक लाख से ज्यादा पृष्ठों पर हिंदी की बहुत-सी मूल्यवान रचनाएं संजोई जा चुकी हैं तथा रोज कुछ नया जोड़ा जाता है। पहले चरण में हम कॉपीराइट-मुक्त कृतियों को हिंदीसमयडॉटकॉम पर दे रहे हैं, यद्यपि इसके साथ ही महत्त्वपूर्ण समकालीन साहित्य को भी प्रकाशित किया जाता है। यह सारा साहित्य बिना किसी शुल्क के न केवल इंटरनेट पर पढ़ा जा सकता है, बल्कि डाउनलोड भी किया जा सकता है।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध सामग्री को चौदह मुख्य खंडों में बांटा गया है—उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना, भक्ति काल का साहित्य, विभाजन की कहानियां, लेखकों के समग्र और संचयन, ई-पुस्तकें, अनुवाद तथा विविध, जिसमें वैचारिक निबंध, संस्मरण, व्यंग्य, यात्रा वृतांत आदि शामिल हैं। एक प्रमुख खंड 'हिंदुस्तानी की परंपरा' का है, जिसमें उन कृतियों तथा रचनाओं को शामिल किया गया है, जो हिंदी-उर्दू की साझा परंपरा का जीवंत दस्तावेज हैं। एक खंड अभिलेखागार का भी है, जिसमें हिंदी के रचनाकारों की तस्वीरों, उनकी हस्तलिपि में लिखित रचनाओं, ऑडियो, वीडियो, पत्रों आदि का संकलन है। लेखक दीर्घा में हिंदी के सभी समकालीन रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय, फोटोग्राफ, पता, फोन नंबर आदि उपलब्ध कराने का प्रयास जारी है।

जाहिर है, हिंदीसमयडॉटकॉम को निरंतर समृद्ध करते चलना एक बड़ा काम है। इसमें हिंदी के सभी लेखकों, संपादकों तथा हिंदी प्रेमियों का सहयोग अपेक्षित है। इन सभी से अनुरोध है कि अपने सुझाव, उनके पास उपलब्ध रचनाएं तथा सूचनाएं आदि भेजकर हिंदीसमयडॉटकॉम को उपकृत करें। हिंदीसमयडॉटकॉम के संपादक मंडल से संपर्क करने के लिए 07152230912 पर फोन करें या editorhindisamay@gmail.com पर मेल करें।

राजकिशोर
53, इंडियन एक्सप्रेस अपार्टमेंट्स, मयूर कुंज, दिल्ली-110096
फोन : 09650101266